प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' पत्रिका की भूमिका

मीना दुबे

भारतीय भाषा केन्द्र की एम0 फिल0 की उपाधि
के लिए
प्रस्तुत लघु - शोध - प्रबंध

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

1979

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

भारतीय भाषा केन्द्र

Gram—JAYENU
Telephone :
New Mehrauli Road,
NEW DELHI-110067.

दिनांक 10-9-1979

प्रमाणित किया जाता है कि कुमारी मीना दुबे द्वारा प्रस्तुत लघु - शोध - प्रबंध — "प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' पत्रिका की भूमिका" में जिस सामग्री का उपयोग किया गया है उसका इस अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय की ऐसी उपाधि के लिये उपयोग नहीं किया गया है।

अध्यक्ष,
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

(केदार नाथ सिंह)
निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

अनुक्रमणिका

1-	भूमिका	:		क - ख
2-	प्रथम अध्याय	:	छायावादी प्रवृत्ति का ह्रास एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति का उदय	1- 23
3-	द्वितीय अध्याय	:	समसामयिक परिस्थितियाँ एवं 'हंस' का उदय	24- 51
4-	तृतीय अध्याय	:	प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' की भूमिका	52 -78
5-	चतुर्थ अध्याय	:	'हंस' में प्रकाशित सामग्री : एक विवेचन	79- 105
6-	उपसंहार	:		106
7-	संदर्भ ग्रंथ सूची	:		107- 108

—

भूमिका

हिन्दी साहित्य पर किये जाने वाले नित्य नवीन शोध कार्यों से साहित्य के विविध पहलुओं एवं समस्याओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है तथापि अभी भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर शोध कार्य अल्पमात्रा में हुआ है । ऐसा ही एक क्षेत्र है — 'साहित्य की विविध धाराओं के निर्माण एवं विकास में समय-समय पर निकलने वाले पत्र-पत्रिकाओं के योगदान की विवेचना । प्रगतिशील आन्दोलन पर पहले स्वीकृत शोध-प्रबंधों का विषय प्रायः उस सामाजिक - आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि की विवेचना रहा है जिसमें प्रगतिशील आन्दोलन ने जन्म लिया अथवा प्रगतिशील आन्दोलन की विविध प्रवृत्तियों का निरूपण ही उसका चरम लक्ष्य रहा जिनके उदाहरण (गद्य - पद्य दोनों से ही) प्रगतिशील साहित्य में से छांटकर उन प्रवृत्तियों की पुष्टि की जाती थी अथवा कभी किसी कृतिकार के कृतित्व के मूल्यांकन का विषय बनाया गया है । अतः विषय-चयन एवं विषय निर्वाचन की दृष्टि से प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबंध एक नवीन दिशा का अन्वेषक हो सकता है क्योंकि उसके शोध का विषय है — 'प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' पत्रिका की भूमिका' ।

पत्रिका का अध्ययन एक दृष्टि से इसलिए भी आवश्यक हो सकता है क्योंकि किसी पत्रिका के माध्यम से ही न केवल कोई विचारधारा अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण करती है अपितु हेट्रोजीनियस तत्वों का संयोजन करने वाली पत्रिका उस विचारधारा के स्वरूप-निर्माण पर भी प्रकाश डालती है । प्रस्तुत विषय भी प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' की इसी निर्णायक भूमिका की विवेचना करता है । इसी दृष्टि से विषय-चयन युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ।

इस क्षेत्र में ('हंस' पर) कुछ विशेष कार्य प्रकाश में नहीं आया है । डा० रामविलास शर्मा ने अपनी 'प्रेमचंद और उनका युग' शीर्षक पुस्तक में 'हंस' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से पत्रकार की हैसियत से प्रेमचंद की क्षमता और सफलता का उद्घाटन किया है । पिछले हाल ही के वर्षों में प्रकाशित 'पत्रकार प्रेमचंद और हंस' (डा० रत्नाकर पाण्डेय, 1977) उसी शृंखला की एक अगली कड़ी है जिसमें पूर्ववर्ती युग की पत्रकारिता का हवाला देते हुए प्रेमचन्द-युगीन पत्रकारिता और उसके बीच प्रेमचंद के 'हंस' के मूल्यांकन का प्रयास है ।

इस पुस्तक का मुख्य स्वर भी हंस की आड़ में प्रेमचंद ही है । 'हंस' एवं प्रगतिशील आन्दोलन के संबंध पर कहीं विचार नहीं किया गया है । अतः मेरा प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबंध इस दिशा में एक नवीन प्रयास हो सकता है ।

लघु-शोध-प्रबंध के प्रथम अध्याय में—'छायावादी प्रवृत्ति का ह्रास एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति का उदय' में छायावाद के उदय के मूल कारणों पर विचार करते हुए भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति के उदय के कारणों पर विचार किया गया है । 'समसामयिक परिस्थितियाँ एवं हंस का उदय' शीर्षक द्वितीय अध्याय में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है जिसमें 'हंस' ने जन्म लिया । इसी अध्याय में उस युग के तीन प्रमुख साहित्यिक व्यक्तित्वों – प्रेमचंद, निराला, आचार्य शुक्ल – के साहित्य में प्रगतिशील स्वरों को स्पष्टतः अलग-अलग रेखांकित करते हुए बताया गया है कि किस प्रकार छायावादी युग में ही प्रगतिशील बौद्धिक दृष्टि जन्म लेने लगी थी । 'प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में हंस की भूमिका' शीर्षक तृतीय अध्याय में प्रगतिशील आन्दोलन के विविध पक्षों — यथा — राजनीति और साहित्य, समाज तथा साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना, यथार्थपरक रूझान, जातीय साहित्य , भारतीय साहित्य, समीक्षा दृष्टि , हिन्दी लेखक - संघ के निर्माण तथा भारत में प्रगतिशील लेखकों के प्रथम अधिवेशन — की चर्चा करते हुए उनके विकास में हंस की भूमिका पर विचार किया गया है । "हंस' में प्रकाशित सामग्री : एक विवेचन' शीर्षक अध्याय में 'हंस' में प्रकाशित सामग्री को विषयानुसार वर्गीकृत करके 'हंस' के निबंधों, कहानियों', कविताओं, गद्य-गीतों, नाटकों आदि के एक सामान्य विवेचन के अतिरिक्त उसके विविध स्तम्भों यथा –'मुक्ता-मंजूषा' 'हंसवाणी', 'विज्ञापन', 'पाठकीय प्रतिक्रिया' आदि पर विचार किया गया है । अन्त में उपसंहार में निष्कर्षों का प्रणयन किया गया है ।

लघु-शोध-प्रबंध की अपनी सीमाओं के कारण विषय का अतिसंक्षिप्त विवेचन ही सम्भव हो सका है तथा बहुत सी बातें छूट भी गई हैं । यथा — समसामयिक अन्य पत्र-पत्रिकाओं से 'हंस' के स्वर की तुलना, लेखकों के निर्माण में 'हंस' का योगदान, उसके विशेषांकों का विस्तृत अध्ययन, भाषा -संबंधी विशिष्ट साहित्यिक समस्यायें, लेखक एवं पाठक का संबंध आदि – जिनके लिए

कई स्वतंत्र अध्यायों की अपेक्षा है । लघु-शोध-प्रबंध के संक्षिप्त आकार के कारण ही इच्छा होते हुए भी इनका विवेचन उसमें संभव न हो सका । पी-एच०डी० के शोध कार्य में इस पर विस्तार से चर्चा संभव हो सकेगी ।

अन्त में, दो शब्द कृतज्ञता ज्ञापन के । मैं अपने निर्देशक डा० केदार नाथ सिंह की अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अपने व्यस्ततम क्षणों में से अपना बहुमूल्य समय देकर मेरा मार्ग-दर्शन किया तथा समय-समय पर अमूल्य सुझावों द्वारा कार्य को सहज बनाया और इस स्थिति तक लाने में निरन्तर प्रोत्साहित किया । साथ ही साथ भाषा संस्थान के अधिष्ठाता प्रोफेसर नामवर सिंह जी तथा भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष प्रोफेसर मुहम्मद हसन की प्रत्यक्ष आभारी हूँ जिन्होंने निरन्तर हरसंभव सहायता प्रदान करके मेरे इस कार्य को आगे बढ़ाया । अंत में मैं उन सभी शुभचिन्तकों की भी आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मेरे इस कार्य में सहयोग प्रदान किया ।

मीना दुबे

—

प्रथम अध्याय

छायावादी प्रवृत्ति का ह्रास एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति का उदय

विभिन्न साहित्यिक वादों के उत्थान-पतन एवं एक निश्चित दिशा में उनके विकास के कारणों पर विचार करने से पूर्व इतिहास अध्येता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सर्वप्रथम किसी साहित्यिक-आन्दोलन के मूल स्रोत अथवा उत्स की खोज करे अर्थात् उन परिस्थितियों का ठीक-ठीक विश्लेषण करे जिनके कारण किसी युग-विशेष में एक विशेष प्रकार का साहित्य रचा जाता है। इस विषय में एक महत्वपूर्ण स्मरणीय मुद्दा यह है कि प्रत्येक साहित्यिकवाद अपने युग, समाज, परिवेश एवं संस्कृति से न केवल जुड़ा होता है वरन् उसका अपना एक स्वतन्त्र इतिहास भी होता है। इसी दृष्टिकोण से हम छायावादी प्रवृत्ति के ह्रास एवं यथार्थवादी चेतना के उदय एवं उसके मूल कारणों पर विचार करेंगे।

पिछले अनेक वर्षों से छायावादी प्रवृत्ति के अंत की घोषणा उसके विरोधी एवं समर्थक — दोनों ही पक्षों के सदस्य करते रहे हैं। श्री इलाचंद्र जोशी ने 'विशाल-भारत' में 'छायावाद का विनाश क्यों हुआ' शीर्षक निबंध से उसके पतन के कारणों पर विचार किया। आधुनिक कवि (भाग 2) की भूमिका में पंत ने लिखा — 'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा...'[1] नगेन्द्र ने लिखा —'स्थूल ने एक बार फिर सूक्ष्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की है।' सारतः इलाचंद्र जोशी छायावाद की क्षीणता, प्रगतिवादी कवि उसकी पलायनवादी प्रवृत्ति एवं पंत उसके

1- आधुनिक हिन्दी साहित्य : (अभिनव भारती ग्रंथमाला), पृ0 130

काव्य न रह कर अलंकृत संगीत बन जाने को उसके पतन का कारण मानते हैं। परम्परागत शिक्षा-संस्कारों से रहित, नवीन शिक्षा के परिणाम एवं अंग्रेजी से अनूदित अथवा अनुवादित होने के अतिरिक्त कृत्रिम तत्सम-प्रधान, जटिल दुर्बोध होने के अतिरिक्त काव्यभाषा की सहज शक्ति से रहित होने के कारण उस काल की काव्य भाषा सर्वजन बोधगम्य न रह गई थी। फलतः छायावादी काल में कवि और पाठक के मध्य भाषा के अन्तराल को उसके पतन का एक अहम कारण मानते हुए इस मत की प्रस्थापना डा० देवराज उपाध्याय ने 'छायावाद : उत्थान एवं पतन पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक पुस्तक में की है कि छायावाद का पतन उसकी शैलीगत विशेषताओं के कारण हुआ। छायावादी प्रवृत्ति के पतन के कारणों की इस खोज से तो यही जान पड़ता है कि निश्चित रूप से छायावाद का ह्रास अथवा पतन हो गया है। अतः समस्या है - इस कथन की सत्यता को कसौटी पर कसने की।

इससे पूर्व कि हम आगे बढ़ें, हमें छायावादी प्रवृत्ति के उदय के मूल आर्थिक - भौतिक कारणों अथवा पहलुओं पर विचार कर लेना चाहिए। छायावाद पूंजीवादी व्यवस्था के समानान्तर विकसित होने वाली वह साहित्यिक प्रवृत्ति है जो ''मूलतः भावोच्छ्वास - प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना - वैभव की वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति है जो देशकाल-गत वैशिष्ट्य के साथ सभी जातियों के उत्थानशील युगों की आशा - आकांक्षा के रूप में व्यक्त होती है।''[1] अपने मूल रूप में यह बुर्जुआ पूंजीवादी संसार के विरुद्ध — जो प्रत्येक वस्तु को 'माल' के रूप में परिवर्तित कर देता है —— भावात्मक एवं अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण सामन्त-विरोधी और उन्हीं

1- आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ : डा० नामवर सिंह, पृ० 17

अर्थों में प्रगतिशील विद्रोही आन्दोलन है जो एक युग - विशेष के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए उसे उसके सम्पूर्ण अन्तर्विरोधों के साथ उजागर करता है । अर्न्स्ट फिशर के शब्दों को व्यवहृत करते हुए हम कह सकते हैं कि स्वच्छन्दतावाद क्लासिकवाद तथा आभिजात्य, तज्जनित नियमों एवं मानकों, काव्य के आभिजात्य रूपों एवं काव्य की उस वस्तु के प्रति — जिसमें से प्रत्येक सामान्य बहिष्कृत है — एक पेटी - बुर्जुआ विद्रोह है । ''[1] अतः सामाजिक विकास-क्रम में प्रत्येक देश एवं जाति के साहित्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पाई जाती है ।

संस्कृति को चूंकि उसके आर्थिक - भौतिक धरातल से असम्पृक्त नहीं किया जा सकता अतः साहित्य एवं कला भी सामाजिक संस्थाओं एवं उनके विकास से अभिन्न रूप से जुड़ी होती है । अपने इस रूप में किसी युग की कला अपने युग-विशेष के सामूहिक भावों की प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है । अतः सामाजिक विकास-क्रम में पूंजीवादी व्यवस्था के समानान्तर इस प्रवृत्ति ने उत्पादन तथा साहित्य एवं कला दोनों क्षेत्रों में तकनीक संबंधी आश्चर्यजनक प्रगति करते हुए पुराने मूल्यों, समाज-व्यवस्था तथा उसके संस्कारों के विरुद्ध विप्लव खड़ा कर दिया । इसलिए आधुनिक काव्य को समझने के लिए उसकी ठीक-ठीक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना भी अत्यावश्यक हो जाता है ।

स्वच्छन्दतावादी काव्य सामन्ती समाज द्वारा लगाए गए मानव-व्यक्तित्व पर बंधनों के प्रतिकार एवं वैयक्तिकता के प्रसार का काव्य है जिसने क्रमशः वैयक्तिक प्रेम, प्रकृति प्रेम, रूढ़ि विद्रोह आदि के द्वारा राष्ट्रप्रेम को मूर्त्त रूप

1- The Necessity of Arts : Ernest Fisher, p.53

प्रदान किया एवं उसके आमूल परिवर्तन के मानसिक उपकरण जुटाए । स्वच्छन्दतावादी काव्य क्रमशः राष्ट्रीय-मुक्ति की भावनाओं को प्रश्रय देता है, उदाहरणतः फॉस्कोलो द्वारा नेपोलियन के स्वागत में 'A Bonaparte Liberatore' नामक ओडे अथवा निराला के काव्य में क्रांति का आह्वान ।

यूरोप की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के मूल में औद्योगिक क्रांति, फ्रांस की राज्य-क्रांति तथा जर्मन - विचारधारा की निष्पत्तियाँ निहित हैं । क्रमागत रूढ़ियों एवं परम्पराओं को तोड़ कर चलते हुए यूरोप में रोमांटिक काव्य-धारा होमर से प्रारंभ होकर रेनेसाँ से होती हुई शेक्सपियर , मिल्टन , शेली, कीट्स, बायरन, वर्ड्सवर्थ, कालरिज आदि को प्रभावित करती हुई आज तक चली आई है जो अपने मूल स्वर में सामन्त-विरोधी होने के कारण ही प्रगतिशील है । इसके ठीक विपरीत हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य के पीछे साम्राज्यवादी शक्तियों की गुलामी, सामन्तवाद एवं पूँजीवादी शोषण का गठजोड़ है । अतः दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर है । यूरोप की स्वच्छन्दतावादी कविता के पीछे प्रेरक रूप में आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रधान थीं जबकि छायावाद के पीछे वह सांस्कृतिक नवजागरण प्रधान था जिसका सूत्रपात राममोहनराय ने किया था । स्वच्छन्दतावाद की सारी प्रवृत्तियाँ रोमांटिक थीं जबकि छायावाद में प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद आदि का प्रभाव भी है क्योंकि यह सभी प्रभाव यूरोप में उस समय तक प्रचलित हो चुके थे । इसलिए छायावाद ने प्रारंभ से ही जनभूमि का त्याग करना शुरू कर दिया जबकि स्वच्छन्दतावाद में जन-जीवन के प्रति ललक सर्वत्र परिव्याप्त है । छायावादी कविताओं में राष्ट्रीय जागरण वस्तुतः सांस्कृतिक जागरण के अंग के रूप में आता है जो पुनर्जागरण की मूल धारा के ही अनुरूप है, अतः उसका आधार राजनीति

की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक है ।

जब एक वाद का प्रमुखता से अनुसरण होने लगता है तब उसके विरोध में दूसरी काव्य-धाराएं आविर्भूत हो कर सन्तुलन बनाए रखती हैं । अतः छायावाद के गर्भ से यथार्थवाद का जन्म हुआ । यहां तक कि अर्न्स्ट फिशर के शब्दों में तो स्वच्छन्दतावाद यथार्थवाद का पहला चरण है ।[1]

हिन्दी में उदित होने वाली यथार्थवादी चेतना की पृष्ठभूमि यूरोपीय यथार्थवाद की पृष्ठभूमि से कुछ भिन्न थी । यथार्थवाद का 'वाद' के रूप में जन्म 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ जो कालक्रम में सभ्यता के विकास के साथ-साथ युग-संदर्भता से अनुप्राणित होती गई । उसके मूल में औद्योगीकरण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले व्यवस्थागत अन्तर्विरोध, डार्विन, न्यूटन आदि की युगान्तरकारी वैज्ञानिक स्थापनाएं, जनतांत्रिक व्यवस्था, तेन, मादाम डी स्टेल, सेंट साइमन, कामटे, फायरबाख, मार्क्स, ऐंगिल्स, बेलिस्की, चर्नशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव आदि की दार्शनिक - वैचारिक निष्पत्तियां निहित हैं । इस यथार्थवादी प्रवृत्ति ने भाववादी - आदर्शवादी चिन्तना एवं स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति दोनों को ही आघात पहुंचाया जिससे उसका साहित्यिक एवं कलात्मक प्रदेय समाप्त हुआ । दूसरे कला-आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक ठोस-वैचारिक आधारों पर प्रतिष्ठित होने के कारण ही स्वच्छन्दतावाद की अपेक्षा यथार्थवाद एवं उसकी प्रेरक दृष्टियां दीर्घजीवी हुईं एवं आज समूची सर्जनात्मक विधाओं में अपना स्वरूप प्रगट कर चुकी हैं ।

1- "Out of the romantic revolt of the lonely I, out of a curious mixture of the aristocratic and plebeian denials of bourgeoise values, came Cultural Realism ...."

The Necessity of Arts : Ernest Fisher, p.103

यूरोप की समस्त यथार्थवादी दृष्टि का वर्चस्व एवं उसकी व्याप्ति गैर मार्क्सवादी तथा मार्क्सवादी — दो आयामों में देखी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में जब काव्य में स्वच्छन्दतावादी था तब गद्य में यथार्थवादी दृष्टि का विनियोग हो चला था। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप नई समाज-व्यवस्था, नए वर्गों तथा तज्जनित मानव-संबंधों का जन्म एक ओर तथा गद्य का वर्चस्व दूसरी ओर स्थापित हुआ। यद्यपि विरूपताओं एवं विकृतियों के कारण बीसवीं सदी के शुरू में कुछ यथार्थ-विरोधी प्रवृत्तियों का भी जन्म हुआ किन्तु प्राबल्य यथार्थवादी प्रवृत्ति का ही रहा। सैं ब्यूब तथा तेन ने सर्वप्रथम स्वच्छन्दतावादी धारणा पर चोट करते हुए कहा कि कृति की रचना का स्रोत कलात्मकता की अंधेरी गुफाओं में नहीं होता। मैथ्यु आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर उसका सीधा संबंध उस दायित्व चेतना से जोड़ा जिसके केन्द्र में जीवन-जगत की स्थिति, मानव-मूल्यों का स्रोत एवं संरक्षण है। बेलिंस्की ने कला को 'छवियों में सोचने की प्रक्रिया' कहते हुए उसे जनता का दर्पण माना। दोब्रोल्युबोव के अनुसार साहित्य का मूलभूत प्रयोजन जीवन की प्रक्रिया को स्पष्ट करना है। मार्क्सवादी आयाम के अनुसार साहित्य एवं कला विशिष्ट मानवीय उपलब्धियाँ हैं जिनका विकास मनुष्य के क्रांतिकारी विकास के साथ संलग्न है। कविता काडवेल के लिए मूलतः एक आर्थिक क्रिया है, प्लेखानोव उसे 'आर्थिक - भौतिक धरातल से नियत मानसिक चेतना की उपज' मानते हैं और फिशर उसे 'अंततः ही सामाजिक आर्थिक संबंधों की बाह्य संरचना' कह कर व्याख्यायित करते हैं। इसी क्रम में साहित्य एवं कला की उत्पत्ति, उसकी सामाजिक उपयोगिता, राजनीति से उसका संबंध, कला का वर्गीय आधार, परम्परा-संबंधी दृष्टिकोण, विचारधारा एवं विश्व-दृष्टि का संबंध, आधार एवं अधिरचना का संबंध, रूप एवं वस्तु का प्रश्न, कला एवं यथार्थ आदि प्रश्नों पर विचार किया गया।

सारतः कला के क्षेत्र में यथार्थवाद आदर्शवाद के अस्वीकार का प्रतिफल है जिसका प्रथम चरण – आलोचनात्मक यथार्थवाद —– ''पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ किसी अकेले अहं का रूमानी विद्रोह एवं बूर्जुआ मूल्यों के प्रति एक ऐसे विलक्षण नकार का प्रतिफल है जिसमें आभिजात्य और गँवारू या सामान्य दोनों प्रकार की मानसिकता घुली-मिली रहती है।'' उदाहरणतः बायरन कृत 'डान जुआन' तथा फ्लाबेर कृत 'मादाम बावेरी'।

आलोचनात्मक यथार्थवाद एवं क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद का महत्व दो रूपों में है —-

1- कलात्मक सौष्ठव एवं शिल्प - सौंदर्य के प्रतिमानों के रूप में।

2- अपने वर्ग के सही चरित्र को खोलने और आलोचना करने वाले दस्तावेज के रूप में।

यूरोपीय यथार्थवादी धारा के विकास के विपरीत हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति का विकास भाववादी धारा के समानान्तर ही हुआ है जिसके बीज हमें बड़ी प्रखर सम्भावनाओं के साथ भारतेन्दु युग में मिलते हैं। दृष्टिकोण एवं परिदृश्य के विस्तार के बावजूद जो तीखा प्रखर यथार्थबोध हमें भारतेन्दु-युग में मिलता है वह परवर्ती द्विवेदी -युगीन कविता में नहीं मिलता। व्यंग्य-परंपरा के हल्के छींटे निराला में मिलते हैं जो आगे चलकर ही गाढ़े हो पाते हैं। भारतेन्दु एवं भारतेन्दु-मंडल के जिन कवियों ने जिस यथार्थवादी परंपरा का बीज-वपन किया था (गद्य-पद्य दोनों में) उसका रूप स्वच्छन्दतावादी कवियों — रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक आदि में मिलता है किन्तु बीसवीं सदी के शुरू में महावीर प्रसाद द्विवेदी

के आगमन से हिन्दी में संस्कृत के वृत्तों का प्राबल्य होने लगा । अतः द्विवेदी युग के साहित्य में तीन प्रवृत्ति-धाराएं विद्यमान हैं —

1- उर्दू फ़ारसी की बहरों पर आधारित काव्य-रचना

2- संस्कृत वृत्तों पर आधारित हिन्दी में पद्य-रचना

3- स्वच्छन्दतावादी धारा

आगे चलकर छायावादी युग में ही पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी के माध्यम से श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि द्वारा प्रवर्तित स्वच्छन्दतावादी धारा का क्रमविकास होता है । प्रश्न है कि ऐसा क्यों हुआ ?

हमारे देश के इतिहास में सन् 1857 का विद्रोह वस्तुतः देश के असन्तुष्ट तत्वों का विद्रोह था, यहाँ तक कि के० दामोदरन के शब्दों में "1857 का गदर सेना-विद्रोह नहीं वरन् व्यापक राष्ट्रीय स्वरूप वाला एक शक्तिशाली संघर्ष था ।" साहित्य में यह युग भारतेन्दु-युग के नाम से जाना जाता है जो अपने मूल स्वर में क्रांतिकारी होने के साथ-साथ राष्ट्रभक्ति तथा राज्यभक्ति जैसी परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का पुंज है । पत्रकारिता के माध्यम से देश में इस समय यथार्थवादी चेतना का जन्म हुआ, जनता में अपनी परिस्थितियों के ज्ञान के फलस्वरूप नवीन चेतना एवं उससे जन्य असन्तोष की भावना फैलने लगी जिसे विकास देने के लिए सन् 1885 में भारतीय कांग्रेस को ह्यूम ने जन्म दिया । अपने जन्म के पहले बीस वर्षों में सन् 1905 तक देश की राजनीति में नरम दल का प्राधान्य था जिसका मुख्य उद्देश्य कुछ राजनीतिक सुधारों की माँग करते हुए सामाजिक-सुधार आन्दोलन चलाना एवं जनता को आधुनिक राजनीति की शिक्षा देना था। उस समय तक राजनीति कुछ मुट्ठी भर पढ़े-लिखे उच्चवर्ग के लोगों तक ही सीमित थी । 1907 के आसपास राजनीति में नरमदल की ढुलमुल समझौतावादी बुर्जुआ राजनीति की अपेक्षा उग्रदल

की राजनीति — जिसमें प्रमुखतः मध्यवर्गीय तत्वों का समावेश था - अधिक लोकप्रिय हो रही थी । निम्न-मध्यवर्ग में आधुनिक शिक्षा- जन्य बेरोज़गारी ने कुछ व्यक्तिगत आतंकवादी घटनाओं को प्रश्रय दिया था । प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी शक्तियों के संघर्ष से देश में पुनरुत्थानवाद एवं इस्लामी राष्ट्रवाद का उदय हुआ । तिलक की माण्डले से वापसी, प्रथम महायुद्ध जनित निराशा एवं विक्षोभ, होम रूल लीग आन्दोलन, रूस की सफल क्रांति इन सब कारणों से राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान एवं राष्ट्रीय आन्दोलन का उत्थान निरन्तर प्रभावशाली होता जा रहा था । सन् 1922 का प्रथम असहयोग आन्दोलन वर्ग-स्वार्थ बनाम जनसंघर्ष का मुद्दा था । दूर प्रतापगढ़, फैजाबाद आदि इलाकों में किसान आन्दोलन पनपने लगा था जिसका राष्ट्रीय - मुक्ति-आन्दोलन से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं था । 1927-28 के आस-पास श्रमिक आन्दोलनों में वर्ग-संघर्ष की भावना आ गई थी । 1929 में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हुआ जिसमें मेहनतकश जनता ने प्रथम बार यह माँग रखी कि भविष्य में बनने वाले नए राज्य में उनका क्या स्थान होगा । इसी समय समाजवादी विचारधारा भी पनपने लगी थी । सारतः 1930 के आस-पास राजनीति में एक गुणात्मक परिवर्तन आने लगा था ।

देश का यह राष्ट्रीय-मुक्ति-संग्राम वस्तुतः सांस्कृतिक नवजागरण का ही परिणाम था जो अपने मूल स्वरूप में धार्मिक था । यूरोपियों के आगमन से पूर्व ही भारत में पूँजीवादी तत्वों का उदय हो चुका था जिनके क्रमिक विकास से पूर्व ही अधिक शक्तिशाली शासक रंगमंच पर उतर आए । वे अपने साथ अधिक विकासशील पूँजीवादी व्यवस्था साथ लाए थे और उन्होंने हमारी औद्योगिक प्रगति को नष्ट करके अपनी औद्योगिक क्रांति को खूब बढ़ाया । इसके साथ ही भारतीय समाज के आधारभूत ढाँचे में उन्होंने क्रांतिकारी परिवर्तन करते हुए भारत को एक ऐतिहासिक

उपनिवेश बना दिया जिसका काम इंग्लैंड को कच्चा माल सप्लाई करना था । अतः हमारे यहाँ नवजात पूंजीपति वर्ग देशी सामन्तवाद और विदेशी उपनिवेशवाद से अपनी रक्षा न कर सका । ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने समानान्तर सहायक के रूप में सामन्तवाद को बनाए रख रहा था जबकि यूरोप में पूंजीवादी व्यवस्था का विकास सामन्तवाद को समूल नष्ट करके ही हुआ था । अतः तत्कालीन भारतीय समाज में शोषण की दोहरी प्रक्रिया थी —

1- देशी सामन्तवाद-पूंजीवाद द्वारा जनता का शोषण

2- विदेशी उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद द्वारा जनता का शोषण

रेल, भाप के जहाजों, यातायात के साधनों एवं आधुनिक संचार-व्यवस्था— जिसके ब्रिटिश उद्देश्य थे, माल ढोना तथा स्थानीय विद्रोहों पर सैन्य शक्ति पहुँचाना — ने भारत के भौगोलिक एवं राजनीतिक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया और इस प्रकार युगों के अलगाव को दूर किया।[1] कालान्तर में ये सभी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के उत्थान का कारण बने । सन् 1857 के बाद ईसाई मिशनरियों के क्रिया-कलापों को प्रश्रय मिला, जाति-भेद, अंधविश्वास, दकियानूसी रीति-रिवाजों का पुष्टीकरण हुआ । ईसाई मिशनरियों के कार्यों —— मूर्तिपूजा, सतीप्रथा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता, अछूतोद्धार आदि के विरुद्ध आन्दोलन—ने भारतीय समाज की सामाजिक चेतना को जागृत किया, शिक्षा-प्रसार ने विचार एवं कार्य-प्रणाली के एक नए ढंग की शुरुआत की जो बाद के सांस्कृतिक नवजागरण में उभर कर सामने आई।

शिक्षा एक ऐसा सूक्ष्म यन्त्र था जिसे ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयुक्त किया गया जिसके उद्देश्य थे — दुभाषिये पैदा करना, प्रशासन के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करना, एवं जीवन संबंधी पाश्चात्य विचार-पद्धतियों को

1- The Future Results of British Rule in India : Karl Marx

प्रसारित करना[1] किन्तु उसका उल्टा परिणाम यह हुआ कि हमने अपने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के नए क्षितिज उद्घाटित होते हुए देखे, हीनता की भावना की जगह गौरव की भावना का संचार हुआ, हमने दूसरों के प्रगतिशील विचारों और वैज्ञानिक उपलब्धियों को अपनाना सीखा तथा अपने धर्म, विचार, मान्यताओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों को उन पर कस कर देखना सीखा जिसने एक ओर तो वैज्ञानिक दृष्टि का आधार-बिन्दु प्रदान किया तो दूसरी ओर राष्ट्रीय जागरण में सहायता दी।

पूँजीवादी वर्ग के उदय के साथ ही नए विचारों का उदय अपरिहार्य था, अतः समानता, स्वतन्त्रता, जनवाद, मानवतावाद, उदारतावाद आदि की माँग होने लगी तथा अतीत और संस्कृति के प्रति गहरे रुझान ने आगे चल छायावादी पुनरुत्थानवाद को जन्म दिया। इसलिए आर्थिक पिछड़ेपन एवं विदेशी प्रभुत्व के कारण उन्नीसवीं सदी के सामन्तवाद-विरोधी, उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन की अपनी सीमाएँ थीं जो जनता पर धर्म का अटूट प्रभाव बनाए रखने वाली थी। फलतः हमारा सांस्कृतिक नवजागरण भी मुख्यतः धार्मिक सीमाओं से ही शुरू हुआ। यह ऐसा समय था जब प्रत्येक कार्यकलाप के पीछे धार्मिक प्रेरणा निहित थी –

''राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति धार्मिक जागरण के प्रतिबिम्ब के रूप में हुई। प्रारंभिक अवस्थाओं में स्वयं धार्मिक चेतना राष्ट्रीय चेतना का प्रतिबिम्ब थी। सामाजिक तथा राजनीतिक धारणाएँ, जनतांत्रिक तथा देशभक्ति पूर्ण आकांक्षाएँ, एक श्रेष्ठतर जीवन के लिए आकांक्षाएँ — ये सब धार्मिक रूपों में प्रगट हुई थीं।''[2]

सारतः हमारे नवजात राष्ट्रवाद ने अपनी सामाजिक और आर्थिक अन्तर्वस्तु के कारण स्वयं को धार्मिक रूपों में प्रगट किया, जिसका विकास राष्ट्रीय नवजागरण के रूप में हुआ।

1- भारतीय चिन्तन परम्परा : के० दामोदरन, पृ० 356
2- वही, पृ० 361

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उन्नीसवीं - बीसवीं सदी में जिन धार्मिक-सामाजिक आन्दोलनों ने राष्ट्रीय जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की वे मूलतः मध्ययुगीन तत्ववाद तथा अवैज्ञानिक धारणाओं पर आधारित होने के बावजूद अपने मूल स्वर एवं अन्तर्वस्तु में सामन्तवाद - उपनिवेशवाद-विरोधी थे । इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण ही उन पर आदर्शवाद की छौंक थी लेकिन उन्होंने सड़े-गले सामाजिक सम्बन्धों की समाप्ति तथा नए सम्बन्धों और विचारों की भूमिका का सृजन करते हुए प्रगतिशील भूमिका अदा की । ''व्यवहारतः वे भविष्य की पुकार का एक उत्तर थे ।''[1]

विचारों की यह तर्कपरकता एवं सुधारवाद देश की धीमी प्रगति से मेल न खाते थे । फलतः बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग पुनरुत्थानवाद से प्रेरित था । अतः राजनैतिक - आर्थिक संघर्षों ने धार्मिक आवरण अपनाया तथा भारतीय समाज भी प्रतिक्रियावादी एवं प्रगतिशील शक्तियों में विभाजित हुआ । उस समय की प्रगतिशील शक्तियाँ भी पुनरुत्थानवादी एवं सुधारवाद दो रूपों में बँटी हुई थीं । ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी एवं आपस में टकराने वाली थीं । कुल मिलाकर राष्ट्रीय पूँजीवाद का उदय तब हुआ जब ब्रिटिश पूँजीवाद अपनी जड़ें गहरी जमा चुका था और सामन्ती समाज के अवशेष भी वर्तमान थे । कालान्तर में इसका प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन एवं साहित्यिक चेतना दोनों पर समान रूप से पड़ा ।

सारतः उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के प्रारंभ में जो परस्पर-विरोधी, यहाँ तक कि अन्तर्विरोधी चिन्तन-धाराएँ भारतीय जनमानस के विचारधारात्मक जीवन में चल रही थीं वे वस्तुतः उस युग के सामाजिक-आर्थिक अन्तर्विरोधों का ही परिणाम थीं । फलतः हमारे यहाँ भाववादी धारा के समानान्

1- भारतीय चिन्तन परम्परा : के० दामोदरन, पृ० 362

की यथार्थवादी धारा का प्रवर्तन हुआ । इसी कारण से छायावाद हमारे यहाँ विविध, यहाँ तक कि अन्तर्विरोधी काव्य-प्रवृत्तियों का नाम है जिनके मध्य एक आन्तरिक संबंध है और जिसके विभिन्न कवियों में विभिन्न पक्षों का विकास हुआ है। मूलतः द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरोध में उठ खड़ा होने वाला ''छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से''[1]।

इसलिए सन् 20 के आस-पास जो कविता लिखी जा रही थी उसमें छायावादी प्रवृत्ति के साथ-साथ प्रगतिशील संस्कार भी विद्यमान हैं । उदाहरणतः 'मैं'शैली के रूप में कवि की वैयक्तिकता का प्रसार संकुलता एवं अतिशय सामाजिकता के प्रति विद्रोह था जिसने क्रमशः प्रकृति प्रेम, रूढि-विद्रोह एवं राष्ट्रीय जागरण के रूप में चरम अभिव्यक्ति पाई । इस व्यक्तिवाद ने भावुकता और कल्पना को जन्म दिया जो अपने मूल स्वर में छायावादी कवि की कल्पना, मुक्ति, विद्रोह आदि की आकांक्षाओं की प्रतीक थी । इस कल्पना ने काव्य में अतीतोन्मुखता एवं पलायनवादी प्रवृत्ति के अतिरिक्त रहस्यवाद को जन्म दिया जिसका एक निश्चित सामाजिक आधार एवं परिदृश्य है । वहाँ 'ससीम' का आशय है —मध्यवर्गीय सामाजिक रूढ़ियाँ एवं मर्यादाएँ तथा 'असीम' का आशय है — उससे मुक्ति का प्रयास जिसे महादेवी ने 'व्यक्त अपूर्णता' एवं 'अव्यक्त पूर्णता' कहा है । रहस्यवाद जन्य यह अस्पष्टता उस युग की गाँधीवादी राजनीति की उपज एवं उस युग के लक्ष्य की अस्पष्टता,अबौद्धिक जीवन-दृष्टि एवं भावावेग की तीव्रता का परिणाम है । सारतः ''आधुनिकहिन्दी काव्य का रहस्यवाद दूसरे दशक में अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए मध्यवर्ग का दृष्टिकोण है जिसमें

1- छायावाद : डा० नामवर सिंह, पृ० 15

पराधीनता एवं रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा तो थी किन्तु जिसके सामने लक्ष्य अस्पष्ट था।''[1]

छायावाद के विभिन्न कवियों — पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी – में भी यह प्रगतिशील संस्कार एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति विभिन्न अनुपात में पाई जाती है। मूलतः पुनरुत्थानवादी प्रेरणा से परिचालित प्रसाद के साहित्य में 'कंकाल' एवं 'तितली' जैसी यथार्थपरक रचनाएं एक ओर पाई जाती हैं तो ''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से... '' अथवा ''अरुण यह मधुमय देश हमारा... '' जैसे मातृपूर्ण राष्ट्रीय गीतों की सृष्टि दूसरी ओर। उनकी रचना का एक तीसरा स्तर पलायन-वाद का है जहाँ वे —— '' ले चल मुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे'' जैसी पंक्तियों की न केवल स्वतन्त्र रूप से सृष्टि करते हैं वरन् छायावाद की महानतम उपलब्धि कामायनी का अंत भी पलायन में ही करते हुए पाए जाते हैं।

कल्पना के आच्छेदास के मोमी पंख जब पिघलने लगे तो पंत जी ने भी 'जीवप्रसू भू' की ओर देखा, फिर भले ही वह दृष्टि मात्र 'बौद्धिक सहानुभूति' तक ही सीमित क्यों न हो? पंत जी 'युगान्त' की उद्घोषणा करते हुए 'युगवाणी' पर आए जो उनके साहित्यिक जीवन में एक पुराने युग के अंत एवं नवीन युग के आविर्भाव की सूचना है —

''देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से''

अथवा ''टीवी टीवी टुट... '' इस प्रकार 'उर्ठ तक आलि-भाति कविता को' कल्पना के कानन की रानी' कहने वाले पंत कविता को सम्बोधित करते हुए 'अनामिका' में लिख रहे थे —

1- आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां : डा0 नामवर सिंह, पृ0 76

''सहज-सहज पग धर आओ उतर

देखें तुम भी वे भी पथ पर'' 'वे' से उनका आशय सामान्य जन से है। पल्लव-काल में ही 'परिवर्तन' कविता उनके इस रुचि-परिवर्तन की द्योतक है जो छायावादी संस्कार एवं प्रगतिवादी-विवेक का संघर्ष था। 'पल्लव' की भूमिका के रूप में छायावाद की कोमल-कल्पना का घोषणा-पत्र करने वाले कवि ने ही आगे चल कर 'रूपाभ' में यथार्थ का संदेश प्रसारित किया —

''इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। अतएव, इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।..... हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है।''[1]

निराला में प्रगतिशील संस्कार तभी थे जब वह छायावाद के कल्पना एवं सौंदर्य लोक के पथिक थे। जहाँ एक ओर वे काव्यगत रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास—

''प्रिये छोड़ कर बंधन-मय छंदों की छोटी राह,
अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू'' — लिख कर

कर रहे थे वहीं दूसरी ओर सामाजिक क्रांति का मार्ग भी अपने कृतित्व के माध्यम से प्रशस्त कर रहे थे और 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' जैसी रचनाओं के माध्यम से समाजवादोन्मुख सामन्त-विरोधी क्रांति का समर्थन कर रहे थे। उनके यहाँ क्रांति का विनाशात्मक उद्देश्य अस्थायी और तात्कालिक है —

1- रूपाभ : पंत, सम्पादकीय अंक 1, 1938 ई०

''आज हो गए ढीले सारे बंधन

मुक्त हो गए प्राण रूका है सारा करुणा-क्रन्दन'' -('धारा')

किन्तु उसका मूल उद्देश्य रचनात्मक एवं स्थायी है —

'' एक पर दृष्टि ज़रा अटकी है,

देखा एक कली चटकी है।''

सन् 1922 में ही उन्होंने 'बादल राग' लिख कर क्रांति का आह्वान किया था-

'' तुझे बुलाता कृषक अधीर

हे विप्लव के वीर '' (बादल राग)

उनका विप्लवी वीर जनता का पक्ष लेकर लड़ने वाला क्रांतिकारी वीर है। निराला के काव्य में 'चलते-फिरते वे निःसहाय', 'कंकाल शेष पर मृत्यु प्राय' तथा 'देखा रूखे अधर सूखे' ये सब साम्राज्यवाद से पीड़ित जन है। वे अपने युग की राजनीति से परे जाकर एक रचनात्मक मार्ग का चयन उस समय कर रहे थे जब गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित करके 'रचनात्मक कार्यक्रम' का चुनाव किया था।[1] उस युग में निराला- गांधी का अन्तर केवल हिंसा के पक्ष को लेकर ही नहीं वरन् क्रांति के भीतरी सामाजिक तत्व को लेकर भी है जहाँ वे देशी पूंजीवाद के प्रति भी जनता को सावधान करते हैं। सन् 1923 में ही निराला पददलितों की मोह निद्रा से क्षुब्ध होते हैं —

''मेरे साथ मेरे विचार —
मेरी जाति —
मेरे पददलित—
मौन हैं - निद्रित हैं / स्वप्न में भी पराधीन''

1- यथा साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए वे लिखते हैं —

''चूम चरण मत चोरों के तू
गले लिपट मत गोरों के तू''

इसलिए कांग्रेसी स्वाधीनता आन्दोलन, इस युग के अन्य लेखकों तथा निराला की राजनैतिक चेतना में यह अन्तर है कि निराला स्वाधीनता - आन्दोलन को अन्य सामाजिक-आन्दोलनों से अभिन्न रूप से सम्पृक्त करते हैं । भारतीय इतिहास, राजतन्त्र और समाज-व्यवस्था की इसी ज़मीन की समझ पर निराला जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्कृति द्वारा पिछले वर्ग को जर्जरित करने और अन्ततः भारतीय मेधा का अपने स्वार्थों के लिए उपयोग करने पर गद्य और पद्य दोनों के माध्यम से प्रहार कर रहे थे । निराला के यहाँ वर्ग-विरोध की सारी स्थितियाँ साफ हैं —उस काल में, जब प्रगतिशील आन्दोलन की आहट भी न थी । अतः वह सम्पूर्ण समाजी ढाँचे की बुनावट पर प्रहार कर रहे थे । मुक्ति उन्हें 'हजारों हाथों के उठते हुए समर' में दिखाई पड़ती है जो अन्ततः वर्ग-संघर्ष की भूमिका का आह्वान है । इस रूप में श्रम जीवी जनसमूह की रचनात्मक शक्ति को निराला ने उभारा । सन् '30 में जाकर ही यह संघर्ष सामूहिक होता है ।

महादेवी भी रहस्य के आवरण में सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास कर रही थीं ।[1] महादेवी तक आते-आते छायावाद अपनी वह प्रशस्त आकृति खो चुका था जो उसने पंत-प्रसाद-निराला के माध्यम से प्राप्त की थी । अपूर्ण स्वप्नों एवं आकांक्षाओं से उत्पन्न नैराश्य ने मध्यवर्ग को जीवन के क्षयी पक्षों की ओर ही उन्मुख किया । छायावाद इसका सबसे सशक्त उदाहरण है । 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधु-कलश' में बच्चन ने प्रगति के नियमों को निबाहा । 'मधुशाला' में क्रांति की गूँज है यद्यपि कला के नाते उसका मूल्य अधिक नहीं है । आगे चलकर 'निशा-निमंत्रण' तथा 'एकान्त-संगीत' में वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख होते दिखाई पड़ते हैं ।

1- यथा, उनकी 'एक बार' कविता — ''कहता है जिनका व्यथित मौन
हमसा निष्फल है आज कौन... ''

'सतरंगिनी' और 'बंगाल का काल' उनके काव्य में नई दृष्टि की सूचना है। बच्चन की रचनाओं में इस युग और समाज की पीड़ा निहित है —

> ''है यह अपूर्ण संसार न मुझ को भाता,
> मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ।''

उनके काव्य में मद, मादकता एवं मस्ती को प्रश्रय देकर सामाजिक मूल्यों के प्रति विद्रोह तो प्रगट किया गया है किन्तु उसके पीछे निराशा का पुट भी छिप न सका है। तत्कालीन भारतीय समाज में इस निराशा का कारण एक सुसम्बद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण का अभाव है। इसी से अंग्रेजी हालावाद के विपरीत बच्चन के हालावाद में अलगाव, दुःख, निराशा, समाज के प्रति अकेले व्यक्ति का विद्रोह एवं अस्पष्टता है।

परवर्ती उत्तर-छायावादी कवियों में क्रांति की चेतना तो विद्यमान है किन्तु उसका स्वरूप उनके निकट स्पष्ट नहीं है। उनके अनुसार परिवर्तन स्वतः स्फूर्त एवं अनिवार्य है किन्तु उसकी दिशा का ज्ञान उनको नहीं है। अतः उत्तरछायावादी काव्य में क्रांति का कल्पना-विलास ही अधिक है। समाज के गतिशास्त्र का वहाँ सही-सही ज्ञान न होने से उद्दण्डता एवं दिशाहीनता ही अधिक है। उदाहरणतः दिनकर की क्रांति 'विपथगा' है, वही कहीं भी जा सकती है। नरेन्द्र शर्मा क्रांति की पुकार करते हुए कहते हैं —

> 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए''

अथवा ''कुछ भी तो हो इस जीवन का,
हो चाहे वह दुर्घटना ही''— जैसी पंक्तियाँ जो परिवर्तन की आकांक्षा को प्रकट करती हैं। दिनकर के काव्य की पृष्ठभूमि में 'राष्ट्रीयता' की 'हुंकार' से जागृत भारत है —

> ''नाचे तीव्र गति भूमि कील पर, अट्टहास कर उठें धराधर,
> उपटे अनल फटे ज्वालामुख, गरजे उथल-पुथल कर सागर,
> गिरे दुर्ग जड़ता का ऐसा, प्रलय बुला दो प्रलयंकर।''

किन्तु यह आह्वान -मात्र है, उसमें गत्यात्मकता नहीं है ।[1] 'चाँदी का शंख' उठाकर वह भैरवनाद करता है —

> ''फेंकता हूँ लो तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुरे! बीन के तार ,
> उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव-हुंकार ।''

'झाँसी की रानी', 'एक फूल की चाह' जैसी विशुद्ध सतही भावात्मक स्तर की कविताएँ भी उस युग में देखने को मिल जाती हैं ।साहित्य में आया यह पथ-विभ्रम वस्तुतः उस युग की राजनीति में भी है, जहाँ परिवर्तन को सिर्फ महसूस किया गया स्पष्ट रूप से समझा नहीं गया । इसी साहित्य में परिवर्तन को प्रलय की समस्त प्रतीक-योजना के साथ प्रस्तुत किया गया ।[2]

गाँधी के प्रभाव का प्रतिफलन प्रेमचंद अपने उपन्यासों में सहज सटीक यथार्थ पर आदर्श का मुलम्मा चढ़ा कर पेश कर रहे थे । अतः मेधा के बावजूद भारतीय जनता की धुँधली तस्वीर उनकी रचनाओं में वर्तमान है । राजनैतिक समस्याओं को हल करने के मार्ग में सबसे बड़ी समस्या गाँधीवाद के निकट थी :— सामाजिक समस्या । प्रेमचंद के उपन्यास इन्हीं परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन हैं जिन्हें उन्होंने 'मानवजीवन के विविध पक्षों का यथार्थ-चित्र उपस्थित करने के लिए' अन्य साहित्यिक क्षेत्रों से अधिक उपयुक्त ' माना । उनका 'रंगभूमि' उपन्यास राष्ट्रीय जागरण की देन है, तो 'गबन' में मध्य-वर्ग की दर्दनाक कहानी । 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' तथा 'गोदान' इसी विकास-क्रम की कुछ अन्य कड़ियाँ हैं । अपने रचनागत-क्रमिक-विकास में प्रेमचंद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

1- "आओ सब मेहनत का साथी..." की पंक्तियों के रचयिता नरेन्द्र का मत है— "आज का संक्रांति कालीन जीवन शाश्वत नहीं केवल सामयिक है।कवि को अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक-राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में उसे क्रांति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा,एकाकी बने रहकर अपनी रक्षा न कर सकेगा'' कवि-कर्म का यह आह्वान निराला से कुछ भिन्न है जहाँ —''जागा कवि अशेष छवि धर।उसका स्वर भर... ''

2- ''तू इंकलाब की आमद का इन्तजार न कर
जो हो सके तो अभी इंकलाब पैदा कर''

की सीमाओं को क्रमशः अतिक्रान्त कर रहे थे । प्रेमचंद के पात्रों के सम्मुख समाज की समस्या है जिसके निराकरण का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है । प्रेमचन्द की लड़ाई के दो मोर्चे थे – (1) साम्राज्यवादी शक्तियों की गुलामी से मुक्ति ; (2) पूंजीवादी सामन्तवादी शोषण से मुक्ति । अपने कृतित्व के माध्यम से उन्होंने साहित्य एवं राजनीति का प्रश्न हल किया जो अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद अधिक भास्वर है ।

दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी धारा के अन्तर्गत जैनेन्द्र और इलाचंद्र जोशी उपन्यास-रचना कर रहे थे । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावनाओं का विश्लेषण करने वाले जैनेन्द्र के उपन्यासों एवं प्रेमचन्द एवं उनके युग से प्रभावित सामाजिक उपन्यासों में मौलिक भेद है । जैनेन्द्र के उपन्यासों में उठाई गई समस्याएं व्यक्ति की समस्याएं हैं, इसीलिए उनके नायक के विद्रोह का प्रभाव सामाजिक न होकर व्यक्तिगत ही रह जाता है । जनता पर इनका गलत प्रभाव पड़ा क्योंकि उस समय प्रश्न मात्र यथार्थ-चित्रण का नहीं वरन् जनता में नई चेतना फूंकने का था ।

इसी समय '27 के आस-पास साहित्य में आलोचना का सूत्रपात होता है । शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबंध उस युग की रहस्यवादी प्रवृत्ति के विरोध में लिखा गया था । 'कविता क्या है', आदि उनके निबंध तथा रस की लौकिक व्याख्या ने आलोचना के माध्यम से साहित्य की लौकिक भूमि एवं सामाजिक महत्ता की प्रतिष्ठा की । निराला पहले ही साहित्य को 'बहुजीवन की छवि' मान कर सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति कर रहे थे । साहित्य के उद्भव, विकास एवं प्रभाव के संबंध में शुक्ल जी की दृष्टि बहुत कुछ साफ और वैज्ञानिक थी । उन्होंने साहित्यिक अराजकता को दूर करके चिन्तन और सर्जना दोनों क्षेत्रों में साहित्यिक मनीषा को संतुलित रूप से आगे बढ़ाया जिसने आगे चलकर

मार्क्सवादी आधार पर प्रगतिशील समीक्षा के मानदण्ड प्रस्तुत किये । शुक्ल जी 'लोक मंगल की साधनावस्था' पर बल देते हुए साहित्य की सामाजिक - व्याख्या के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे ।

कथा-साहित्य में भी यह चेतना परिलक्षित होती है । सन् 1930 के आस-पास की क्रांतिकारी युवामनोवृत्ति की अच्छी झलक 'भाड़े का टट्टू' नामक कहानी में हुई है । 'अलग्योझा' पारिवारिक विघटन की प्रथम कहानी है । 'पूस की रात', 'कफ़न' आदि कहानियाँ समाज के दीन-हीन वर्ग का चित्रण करती हैं ।

बढ़ती हुई समाजवाद-साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव के अन्तर्गत कांग्रेस के मंच से भी समाज-वादी विचारधारा का प्रसार होने लगा था । 1934 में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'कस्मै देवाय' नामक लेख में साहित्य एवं राजनीति का संबंध जोड़ा । जनतांत्रिक हवा के कारण राजनीति में जनसामान्य का प्रवेश हुआ। 'साहित्य किसके लिए'? प्रश्न के उत्तर में कहा गया — 'आज के उपेक्षितों और कल के अपेक्षितों के लिए'। इसी समय भारतीय-साहित्य की परिकल्पना भी उभर कर सामने आई जिसके द्वारा विभिन्न भाषाओं की प्रगतिशील शक्तियों को एकजुट करने का प्रयास किया गया । 'नया साहित्य', 'रूपाभ' आदि अनेक नई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी साहित्य की यथार्थवादी चेतना को अधिक भास्वर रेखाओं में स्पष्ट करने लगा ।

सन् 1935 में यूरोप में साहित्यिक गतिरोध के काल में 'संस्कृति के संरक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय लेखकों का सम्मेलन' (World Congress of Writers for the Defence of Culture) की स्थापना हुई जिसमें यह तय हुआ कि लेखक जनता तथा संघर्षरत मध्यवर्गीय शक्तियों का अपनी रचनाओं द्वारा समर्थन करें । सन् 1935 में ही यूरोप में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हुई जिसकी प्रेरणा

DISS
4(P,152)N4
TH-386

प्रश्न करके भारतीय साहित्य में 1936 में विधिवत् प्रगतिशील आन्दोलन का सूत्रपात हुआ ।

सारतः हम पाते हैं कि सन् '30 के आस-पास हिन्दी साहित्य में आदर्शवाद की सीमाओं में यथार्थवाद का चरम विकास हो चुका था तथा समाज, साहित्य एवं राजनीति में एक गुणात्मक परिवर्तन का प्रश्न ऐतिहासिक रुकेंठ पर आ चुका था। फलतः सन् '30 ही काल संक्रांति काल का प्रारंभ -बिंदु था । इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्य में छायावादी प्रवृत्ति का ह्रास हो गया था । इसके विपरीत उस समय छायावादी काव्य में दो धाराएं विद्यमान थीं – प्रथम जो जीवन के क्षयी पक्षों से जुड़ कर क्रमशः ह्रासशील होती गई, द्वितीय जो युग की प्रगतिशील एवं बौद्धिक शक्तियों का नेतृत्व करते हुए क्रमशः अपना यथार्थपरक स्वरूप क्रमशः स्पष्ट करती जा रही थी । अतः छायावादी प्रवृत्ति के पतन के सभी मत भ्रामक हैं ।[1] छायावाद की आन्तरिक निर्मिति ही ऐसी थी कि उसमें यथार्थवाद के लिए स्थान न था । इस नए युग का युगारंभ सन् '30 में हुआ और सन् '36 तक अपना महत्तम प्रदेय देकर छायावाद गत की वस्तु हो गया । अतः छायावादी प्रवृत्ति का क्रमिक ह्रास एवं यथार्थवाद का उदय हिन्दी साहित्य का ही एक स्वाभाविक चरण-निक्षेप था । वह उन शक्तियों की उपज था जो इतिहास की वल्गा को थामे हुए एक निश्चित पथ की ओर अग्रसर थीं ।

वस्तुतः युग-परिवर्तन की प्रक्रिया आकस्मिक नहीं होती वरन् उसकी नींव निश्चित अवधि से कुछ पहले ही पड़ चुकी होती है जो क्रम शनैः शनैः व्यापक होते हुए पुराने के अंत एवं नवीन के उदय की घोषणा कर देती है।साहित्य की

1- प्रगतिवाद न तो छायावाद के यौवन का गला घोंट कर उठ खड़ा हुआ- जैसा कि नगेन्द्र मानते हैं, न ही उसकी पलायनवादी प्रवृत्ति उसके ह्रास का कारण थी न ही तो धर्म प्राण जनता उसे इतनी आसानी से न छोड़ देती ।

चेतना न केवल इस भावी परिवर्तन के लिए प्रस्तुत ही होती है वरन् स्वयं नवयुग की वाहिका होने के कारण उसके आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा करती है । फलतः विकास की एक परिपक्वावस्था में पके हुए फल की भांति चू कर छायावादी प्रवृत्ति ने स्वतः नवीन यथार्थवादी चेतना के लिए मार्ग प्रशस्त किया । हिन्दी साहित्य में छायावाद स्वयं बहुआयामी प्रवृत्तियों का पुंज था जिसकी अन्तर्वस्तु यथार्थवादी ही थी और जिसका स्वरूप पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक स्पष्ट था ।

हमारे यहाँ यथार्थवाद की एक निजी-विशेषता थी —वह था उसका राष्ट्रीय भावधारा से जुड़ना । वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक साथ ही यथार्थवादी चेतना एवं राष्ट्रवाद का उदय हुआ एवं बीसवीं सदी के प्रारंभ में सन् '30 के आस-पास दोनों का ही विकास हुआ । फलतः हमारे साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन अर्थात् राष्ट्रवाद एवं यथार्थवाद दोनों अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध हो गए । इतना अवश्य है कि जनता के अशिक्षित होने के कारण हमारा संक्रांति-काल आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया था । इस समय साहित्य एवं राजनीति दोनों में ही इस गुणात्मक परिवर्तन को महसूस तो किया गया किन्तु स्पष्ट रूप से समझा नहीं गया था । अर्थात् जब हमें राजनीति में आदर्शवाद को छोड़ना था तो हमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपनाना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं हुआ । फलतः साहित्य में भी पथ-विभ्रम हुआ, कृषक-मजदूरों के चित्रण का स्थान घीसू-माधव जैसे नकारात्मक तत्वों ने ले लिया और यही भूल कालान्तर में प्रगतिशील आन्दोलन के ह्रास का एक महत्वपूर्ण कारण बनी ।

—

द्वितीय अध्याय

समसामयिक परिस्थितियाँ एवं 'हंस' का उदय

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में भारत में ब्रिटिश शासन के पूर्ववर्ती दौर की गतिशील भूमिका की समाप्ति के साथ ही भारतीय जनसमाज में नई शक्तियाँ तेजी के साथ विकसित हो रही थीं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में निरन्तर तीव्रगामी परिवर्तनों के प्रभाव एवं परिणाम स्वरूप भारतीय जनजीवन एवं समाज में अनेकानेक नवीन शक्तियों का उदय हुआ जिन्होंने कालान्तर में कालक्रम से अपना स्वरूप स्पष्ट किया। आर्थिक- राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों ने भारतीय जनमानस में नवीन विचारधारात्मक परिवर्तन उपस्थित किये जिनका स्वरूप जटिल, संश्लिष्ट एवं एक सीमा तक अस्पष्ट भी था। प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं अन्तर्विरोधपूर्ण परिस्थितियों के मध्य में 'हंस' पत्रिका के उदय पर विचार का प्रयास निहित है।

सन् 1914-18 के प्रथम विश्व-युद्ध एवं उसी अनुक्रम में विश्वभर में फैली क्रांतिकारी लहर ने अन्य उपनिवेशों की तरह भारत में भी महान परिवर्तनों के युग का सूत्रपात किया। साम्राज्यवादी शासन की इस पतनशील दिवालिया प्रणाली के विरुद्ध वैसे तो भारतीय जनता पिछली सदी के उत्तरार्द्ध से ही सक्रिय थी किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वह अधिक व्यापक एवं सर्वतोमुखी विद्रोह के मार्ग पर अग्रसर हुई। एक निश्चित सीमा पर पहुँच कर छायावाद का कल्पना-प्रधान सौंदर्य- मंडित युग अपने युग की गरिमामय देन प्रदान कर नवीन साहित्यिक युग के आह्वान के लिए स्वयं प्रस्तुत हो उठा। विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों को समेटे छायावादी दौर का साहित्य एक ओर तो सौंदर्य तथा कल्पना-प्रधान छायावादी कृतित्व से मंडित होने लगा तथा दूसरी ओर युग की प्रगतिशील जनवादी शक्तियों के सामाजिक यथार्थ में मुखरित

करने लगा । इसके अतिरिक्त देशी-विदेशी प्रभावों के फलस्वरूप नाना प्रकार के 'वाद' भी तत्कालीन हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बनाने लगे । इन्हीं विभिन्न परिस्थितियों को अपने अंक में समेट कर 'रस' साहित्य-संसार में प्रगट हुआ ।

भारत में राजनीतिक संकट की गहनता, साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई का मूल कारण शोषण का आधिक्य था । साम्राज्यवाद के अन्तर्मूर्त चरित्र के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय एवं विकास हुआ जिसके प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष परिणामों ने आन्दोलन की बौद्धिक स्थितियाँ तैयार कीं ।

'इतिहास के अनभिप्रेत साधन'[1]— ब्रिटिश शासन ने यद्यपि परम्परागत भारतीय - अर्थव्यवस्था की बुनियाद को छिन्न-भिन्न कर दिया था तथापि अपने समानान्तर उसने सामन्ती-व्यवस्था को बनाए रखा । फलतः धर्म का प्रभाव हमारे नवीन मूल्यों पर भी न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहा जिसका स्पष्ट प्रतिफलन हमें प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के उन वर्षों में देखने को मिला जो भारतीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष के सर्वाधिक गत्यात्मक वर्ष थे । इसके अतिरिक्त विदेशी सत्ता के आधिपत्य एवं सामाजिक - सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण राष्ट्रीय-आन्दोलन एवं समाज-सुधार की भावना प्रारंभ से ही जुड़ गई ।

कांग्रेस की स्थापना के प्रथम बीस वर्षों में राजनीति पढ़े-लिखे ऊपरी वर्ग तक ही सीमित रही जिसने कुछ तो परिस्थितियों के दबाव-वश एवं कुछ अपनी मूल चरित्र-गत प्रवृत्तियों के कारण राजनैतिक क्षेत्र में मात्र कुछ सुधारों की मांग करते हुए सामाजिक-क्षेत्र में आमूल परिवर्तन पर बल दिया । जनता की शक्ति में विश्वास के अभाव के कारण उनका कार्यक्षेत्र भी भिन्न था किंतु सन् 1905 तक आते-आते स्थिति बदलने लगी । सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक एवं नागरिक-अधिकार क्षेत्रों में अनेक मांगों के कारण ब्रिटिश सरकार ने

1- मार्क्स : दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया में से, रजनी पामदत्त द्वारा उद्धृत — देखें - आज का भारत रजनी पामदत्त, पृ0 117

कांग्रेस का समर्थन छोड़ दिया । वस्तुतः यहीं से उग्रपंथ की शुरूआत हुई जिसके मूल में समझौतावादी नीति को तिलांजलि देकर साम्राज्यवाद के विरूद्ध एक निर्णायक एवं दृढ़-प्रतिज्ञ संघर्ष का रास्ता अपनाने की आकांक्षा निहित थी । आधुनिक,सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि के अभाव में यह आकांक्षा अब भी आत्मघातक थी क्योंकि जनान्दोलन का व्यापक आधार नहीं बना था तथापि उग्रपंथी दल के सदस्य जनता की शक्ति में अदम्य विश्वास रखते हुए उससे राजनैतिक आन्दोलनों में सक्रिय भूमिका निभाने की आशा रखते थे ।[1] यहाँ यह दृष्टव्य है कि नरम दल में अधिकांश उसी वर्ग के व्यक्ति थे जो ब्रिटिश शासन की बदौलत फला-फूला था तथा आमूल परिवर्तन की माँग करके हस्तगत सुविधाओं से वंचित नहीं होना चाहता था । फलतः वह स्थान-स्थान पर समझौतावादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देता था ।[2] हिंसा पर आधारित क्रांतिकारी परिस्थिति को पैदा होने से रोकने की जिस भूमिका का निर्वाह राष्ट्रीय कांग्रेस ने किया, साम्राज्यवाद ने उसका बीज-वपन गांधी के आने से पूर्व ही करके इसकी सरकारी भूमिका निर्धारित कर दी थी जो अन्त तक हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल में विद्यमान रही ।

नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि सन् 1906-8 में कांग्रेस के नेताओं को एक ठंडी किस्म की राजनीति की आदत हो गई थी और सन् 1906 की जन-जागृति में वे जनता का नेतृत्व संभालने की बजाय पीछे लटक रहे थे । आर्थिक : राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों, राष्ट्रीय आन्दोलन की

1- पट्टाभि सीतारमय्या ने अपने 'कांग्रेस के इतिहास' में उग्रदल एवं नरम दल की प्रवृत्तियों की विस्तृत तुलना की है, तथा जिसका हवाला के दामोदरन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन परम्परा' में दिया है - देखें - पृ0 413

2- उदाहरणतया मोर्ले-मिन्टो सुधारों को नरम दल स्वीकार कर रहा था ।

आर्थिक कमजोरी, जनता के राजनीतिक रूप से जागृत न होने तथा बड़े शहरों तक ही सीमित रहने के कारण सन् 1906-11 के बीच उठने वाली लहर अपनी शक्ति बनाए नहीं रख सकी किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन में जो स्थायी विकास हुआ वह कभी नष्ट नहीं हुआ। सन् 1906 में ही साम्प्रदायिक तत्वों के ज़हर के प्रतिफल के रूप में मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। जनान्दोलनों से कटे पूंजीपति वर्ग एवं शिक्षा जन्य बेरोजगारी ने क्रांतिकारी आतंकवाद को भी जन्म दिया। उग्रदल ने 'नवीन सभ्यता के प्रचारक अंग्रेज' वाले मिथक का जवाब पुनरुत्थानवादी मिथक से दिया। परिणामस्वरूप सन् 1916 तक आते-आते एक ओर तो भारतीय राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद हो गया और दूसरी ओर उसने इस्लामी पुनरुत्थानवाद को उकसाया जो शीघ्र ही सर्व - इस्लामवाद में बदल गया। उग्रवादियों की एकांगिता ने इस तथ्य को भुला दिया कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला आर्य-पूर्व एवं आर्येत्तर जातियों के सम्मिलन से पड़ी थी। धर्म एवं राजनीति से क्रांतिकारी शक्तियों के विभाजन में ही मदद मिली तथा सामन्त - विरोधी आन्दोलन की सीमाएँ और अधिक संकीर्ण हो गईं।[1]

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता-संघर्ष की एक नई मंजिल शुरू हुई। महायुद्ध के कारण औपनिवेशिक व्यवस्था का संकट उपस्थित हुआ एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रतिष्ठा में ह्रास हुआ। युद्धोत्तर परिस्थितियों के फलस्वरूप एक नई राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। अस्पृश्यों के नव-जागरण ने स्थिति को और अधिक उलझा दिया। सन् 1920 में इसी समय गांधीवाद साम्राज्य-विरोधी विचारधारा के रूप में उदित हुआ जिसका नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग कर रहा था।[2] अपने-युग की अन्य बौद्धिक शक्तियों के मुकाबले गांधीवाद अधिक प्रगतिशील था क्योंकि इतिहास में जनता की शक्ति में उसका अदम्य विश्वास था। गांधी जी ने भारतीय जनता के आर्थिक पिछड़ेपन

1- भारतीय चिन्तन परम्परा : के० दामोदरन, पृ० 437

2- वही, पृ० 457

राजनीतिक अपरिपक्वता, धार्मिक दृष्टिकोण एवं सामाजिक पूर्वाग्रहों के पश्चात का सामाजिक उत्थान के तीन लक्ष्य निर्धारित किये —

1) हिन्दू - मुस्लिम एकता
2) अछूतोद्धार
3) नारी जाति का उत्थान

सामाजिक सुधार की गांधी जी की गतिविधियों एवं मध्ययुगीन रीति-रिवाजों के विरुद्ध उनके आन्दोलन ने उदारतावाद एवं जनतंत्रवादी शक्तियों को ही बढ़ावा दिया । यद्यपि गांधी जी के सत्याग्रह, असहयोग, कर-निषेध, सविनय - अवज्ञा, प्रदर्शन एवं बहिष्कार की नीतियों ने जनता को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सुदृढ़ता से खड़ा किया तथापि उनके अहिंसा के सिद्धान्त में शांतिपूर्ण प्रतिरोध के साथ-साथ मौजूदा परिस्थितियों से समझौते की प्रवृत्ति भी निहित थी । वर्ग-संघर्ष की भावना की जगह गांधीवाद वर्ग-समन्वय को प्रश्रय देता था तथा हृदय-परिवर्तन की नीति में विश्वास रखता था । समाजवाद की अपेक्षा उन्होंने (गांधी जी) पूंजीवाद को आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया था । अतः राष्ट्रीय आन्दोलन में भी बुर्जुआ दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा ।[1] उनका 'रचनात्मक कार्यक्रम' एवं खादी आन्दोलन वस्तुतः व्यक्तिगत आन्दोलन का तीव्र रूप होने के कारण ही औद्योगिक जमाने से बहुत पीछे ले जाने वाला था किन्तु फिर भी उसने ग्राम और शहर के बीच एक कड़ी का काम किया । युग की आवश्यकता के अनुरूप अहिंसा के रूप में उन्होंने धर्म एवं राजनीति का समन्वय किया ।[2]

1- इसी कारण सन् 1920-22, 30-32 का असहयोग आन्दोलन विकास की चरमस्थिति पर पहुँच कर रोक दिया गया ।

2- " Politics however had to be raised to the height of religion in order to form a mass movement. Without it there was no chance of success, as past experience had shown. Any movement on a mass scale had to appeal to the people in a language intelligible to them, the language of religion, Thus Gandhi used a religious approach both because it was his personal faith and as a political weapon." – The Indian Middle Classes : B.B.Mishra,p.399

लक्ष्य की अस्पष्टता उस युग की गांधीवादी राजनीति की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी ।[1] इससे जनता में क्षोभ, निराशा एवं निष्क्रियता की भावना उस समय व्यापक रूप से फैल गई जब 1920-22 का असहयोग आन्दोलन चरम सीमा पर पहुंच कर रोक दिया गया ।

परिस्थितियों की पैनी पकड़ के अभाव में स्वराज्य-पार्टी भी सही नेतृत्व देने में असफल रही । सन् 27 में कांग्रेस की ढुलमुल नीति के कारण - 'हम क्या करें ?' की मनः स्थिति सर्वत्र व्याप्त थी । इससे अलग देश में कृषक आंदोलनों में वृद्धि हो रही थी । इसी समय समाजवाद ने स्वातन्त्र्य संघर्ष को एक नई दृष्टि, नई अन्तर्वस्तु प्रदान की । नेहरू ने समाजवादी नेता के रूप में यद्यपि कांग्रेस का नेतृत्व संभाला[2] किन्तु उनके लिए समाजवाद एक आर्थिक प्रणाली नहीं वरन् एक जीवन-दर्शन था । अतः उनके विचारों में भी आदर्शवाद एवं मार्क्सवाद का समागम था ।[3] एवं 'समाजवाद' से उस समय कांग्रेस का तात्पर्य मनुष्य समाज की गोल-मोल सेवा से होता था ।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् किसान आन्दोलन में 'तीव्रता एवं शोषण के उनके तरीके उन्हें राजनीतिक संघर्ष में खींच लाए । सन् 1920 के आस-पास जो कृषक आन्दोलन फैजाबाद , प्रतापगढ़ आदि जिलों में फैल रहा था वह मूलतः बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न असन्तोष का परिणाम था, राजनीतिक क्षेत्र में चलने वाले असहयोग-आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध न था, यहाँ तक कि शहर वालों को उसका पता तक भी न था । ब्रिटिश पूंजी के

1- मेरी कहानी : जवाहरलाल नेहरू, पृ0 115

2- 27 से ही नेहरू समाजवाद से प्रभावित होने लगे थे । आर्थिक शोषण से मुक्ति, रूसी क्रांति की चर्चा वह तभी करने लगे थे — नेहरू व्यक्तित्व और विचार, पृ0 437 और 492

3- स्वयं नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उस समय का समाजवाद ठोस आर्थिक नीति के अभाव में 'समाजवाद'जैसी कोई वस्तु था।- मेरी कहानी: जवाहरलाल नेहरू,पृ0 375

अनुप्रवेश के फलस्वरूप गरीबी में वृद्धि हो रही थी ।[1] प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान होने वाली औद्योगिक प्रगति युद्ध की समाप्ति के साथ ही अवरुद्ध हो गई थी । माँग में भारी कमी एवं युद्ध में होने वाली हानि को पूरा करने के लिए शोषण के नए-नए तरीके प्रयुक्त हो रहे थे । इसके विरुद्ध किसानों का विद्रोह एवं स्वतः-स्फूर्त ढंग से ग्रामसमितियों, किसान-आन्दोलन एवं 'अखिल भारतीय किसान सभा' आदि का गठन हो रहा था । औद्योगिक प्रगति की धीमी गति, बल्कि 'औद्योगीकरण' की प्रक्रिया और भारतीय अर्थव्यवस्था के 'वाणिज्यिक रूपान्तरण (Commercial Transformation) से देश के श्रमिक वर्ग में भी असन्तोष फैल रहा था,[2] मजदूर संघ का गठन होने लगा था जिसकी विचारधारा काँग्रेसी विचारधारा की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक प्रगतिशील थी । सन् 1929 की विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी ने इन आंदोलनों को तीव्रता ही प्रदान की । इस आर्थिक - राजनीतिक विक्षोभ और संघर्ष के वातावरण में सन् 1929 में पूर्ण स्वाधीनता वाले प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से माँग रखी गई कि आने वाले स्वराज्य में कृषक एवं मजदूर जनता का क्या स्थान होगा ।[3] निश्चित रूप से यह जागते हुए भारत का अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना का उद्बोधन था ।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि सन् 1929 के आस-पास स्वयं 'स्वराज्य' शब्द बहुत अस्पष्ट था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उसका अर्थ लगाता था । गाँधीवाद जनित लक्ष्य की अस्पष्टता एवं आंशिक क्रियात्मक गतिशीलता ही इसका मूल कारण थी ।

1- भारत वर्तमान और भावी : रजनी पामदत्त, पृ० 64
सरकार की एक्सचेंज नीति ने इस बर्बादी की क्रिया को और तेज किया ।

2- बम्बई के कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल एवं रेलवे के मजदूरों की हड़ताल इसका सबसे सशक्त उदाहरण थी ।

3- उन्होंने काँग्रेसी नेताओं से पूछना शुरू किया — ''बताइये, जिस आजादी के लिए आप हमें त्याग और बलिदान करने को कह रहे हैं, उससे हमें क्या राहत मिलेगी? क्या यह सामाजिक व्यवस्था, जिसमें धर्म और जाति-पाँति के नाम पर मनुष्य द्वारा मनुष्य का दमन और शोषण होता है, यों ही बनी रहेगी ? क्या आजादी के बाद भी राजसत्ता पूँजीपतियों और धनियों के हाथ में होगी और श्रम यों ही उपेक्षित और पीड़ित रहेगा?'' —उद्धृत 'हंस राज रहबर': प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन, पृ० 24-25

कुल मिला कर, सन् 30 के आस-पास परिस्थितियाँ एक गुणात्मक परिवर्तन के लिए तैयार होने लगी थी जिसकी चरम परिणति सन् 1936 में हुई। 'जीवन के अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन के लिए जब पुकार सुनाई पड़ती है तो परिवर्तन एक 'वाद' का रूप धारण कर लेता है।' 'इस जले जगत के वृन्दावन बन जाने की आशा' साहित्य एवं राजनीति दोनों में ही अपना स्वरूप प्रगट करने लगी थी जिसने यथार्थवादी 'प्रवृत्ति' को इन दोनों ही क्षेत्रों में जन्म दिया। दोनों ने ही आदर्शवाद की सीमाओं का अतिक्रमण किया और दोनों ही क्षेत्रों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

बदलती हुई चेतना के साथ सन् 1930 में कांग्रेस में भी वामपक्ष प्रबल हो उठा। केवल यही नहीं, सन् 1931 में प्रथम बार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न भी उसने उठाया —

''यह कांग्रेस की राय है कि कांग्रेस किस प्रकार के 'स्वराज्य' की कल्पना करती है उसका जनता के लिए क्या अर्थ होगा – इसे वह ठीक-ठीक जान जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि कांग्रेस अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट कर दे जिसे वह आसानी से समझ सके। साधारण जनता की तबाही का अंत करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखे मरने वालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो।''

''इस से पहले कांग्रेस पूंजीपतियों, जमींदारों और मजदूर किसानों के बीच किसी संघर्ष का अवसर आने पर कोई पक्ष ग्रहण करने से कतराती थी। अब पहले-पहल कांग्रेस ने देश के शोषित मजदूर-किसानों का पक्ष ग्रहण करने की भावना व्यक्त की और इस प्रकार उसकी नीति स्पष्टतया समाजवाद की ओर उन्मुख हुई। प्रस्ताव में मजदूर किसानों के हित के अनेक कार्यों के लिए संघर्ष करने का वादा किया गया तथा उन्हें विस्तार से निर्देशित भी किया गया।''[1]

1- कांग्रेस का इतिहास : डा0 पट्टाभि सीतारमैया (भाग-1), पृ0 468-69, 470-71

इस प्रकार सारतः एक और कृषक-श्रमिक आन्दोलन, तथा दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के आवरण में छिपी ठेठ राजनीतिक संकीर्णता के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले पूँजीपति वर्ग की समझौतावादी नीति भी सक्रिय थी (प्रथम एवं द्वितीय गोलमेज सम्मेलन जिसके स्पष्ट प्रमाण हैं) उस दौर के प्रारंभिक कम्युनिस्टों के चिन्तन में मार्क्सवाद - फ्रायडवाद गडमड था और जिसके परिणाम स्वरूप कालान्तर में प्रयोगवाद का जन्म हुआ । फलतः वामपक्ष के अधिकांश नेता अपने वर्ग-स्वभाव से व्यक्तिवादी थे जो वस्तुतः मेहनतकश जनता से तादात्म्य स्थापित न कर पाए थे । उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी आदर्शवादी था । आगे चलकर गांधी के हाथों सुभाष की शिकस्त दक्षिणपक्ष वामपक्ष की हार थी क्योंकि वह संगठित नहीं था और उसका सामाजिक - राजनीतिक दृष्टिकोण गांधीवाद की अपेक्षा और भी अधिक अस्पष्ट था । हाँ उसका सकारात्मक पक्ष यह अवश्य था कि साहित्य, राजनीति एवं विचार तीनों क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रवेश हो गया था, फलतः नवीन पाश्चात्य प्रगतिशील विचारों से भारतीय जन मानस प्रभावित हो चला था ।

राजनीतिक आन्दोलनों की प्रखरता, जनजागृति एवं वर्ग-वैषम्य की तीव्रानुभूति के कारण जातिव्यवस्था के रूढ़िवादी स्वरूप को धक्का पहुँचा । अस्पृश्यता के प्रश्न को महात्मा गांधी ने सामाजिक - सांस्कृतिक दोनों ही रूपों में उठाया । छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व ब्रिटिश राज्य ने नहीं, प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन ने उत्पीड़ित वर्गों के हितों एवं मुक्ति के लिए किया था । नारी-जागृति युग की एक ज्वलन्त समस्या थी । अतः राष्ट्रीय एवं सामाजिक मसलों के अन्तः संबंधों की समझदारी ही भारतीय स्थिति को समझने की कुंजी है क्योंकि ''भारत में पुरानी व्यवस्था के दिवालियेपन और नई व्यवस्था के जन्म की सामाजिक - राजनीतिक अभिव्यक्ति ही साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध, जिसने बीसवीं सदी में भारतीय परिदृश्य पर अधिक-से-अधिक आधिपत्य कायम किया, भारत की जनता का सक्रिय विद्रोह है।''[1]

1- आज का भारत : रजनी पामदत्त, पृ0 35

सारतः सन् 20-36 तक का काल राजनीति में अन्तर्विरोधों एवं असंगतियों का काल है । हम अपने युग-परिवेश का सर्जनात्मक धरातल पर आवेगात्मक आकलन चाहते हैं जिसके लिए नवीन साहित्य-सृजन की आवश्यकता सतत विद्यमान रहती है । इसके अतिरिक्त साहित्य, समाज एवं राजनीति अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं । अतः देखना चाहिए कि उस युग की साहित्यिक चेतना अपने युग की चेतना का प्रतिफलन करने में कहाँ तक और कितनी सीमा तक सक्षम थी ।

पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि उस युग के साहित्यकार बदलती हुई चेतना को किस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे । साहित्यिक विधाओं के विभिन्न क्षेत्रों में युग की परिवर्तित चेतना को प्रेमचंद गद्य में, निराला काव्य एवं गद्य दोनों में तथा शुक्ल जी साहित्यालोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक सक्षम् अभिव्यक्तिकरण के नए रूपों की खोज में सतत प्रयत्नशील थे । प्रस्तुत अध्याय में प्रेमचंद, निराला एवं शुक्ल जी के कृतित्व के माध्यम से ही उस युग की साहित्यिक चेतना के स्तर का निर्धारण करने का प्रयास किया जाएगा ।[1]

उच्च कोटि की साहित्य-सर्जना में लेखक की विचारधारा की नियोजना आरोपित न होकर स्वतः-प्रसूत होती है । प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद नए रूप से प्रारंभ होने वाला अंग्रेजों का बर्बर पुलिस-राज्य, खूनी आतंक, उसके सहायक देशी तत्वों का यहाँ की जनता से विश्वासघात, और उसके विरुद्ध भारतीय जनता का संघर्ष, उसकी इच्छा-आकांक्षा सब कुछ प्रेमचंद के उपन्यासों में मूर्त्त हुआ है । प्रेमचंद से पूर्व उपन्यास-कथा साहित्य संबंधी प्रदेय केवल सामाजिक यथार्थ पर सतही तौर से जुड़ने की चेष्टा मात्र है जिसकी आधारभूमि पर ही प्रेमचंद ने अपने कृतित्व का महल खड़ा किया जिसका मूल उद्देश्य

1- इसके अतिरिक्त युग के अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही था । सन् 23 में ही जब साहित्य-संसार में छायावादी युग का प्राधान्य था, प्रेमचंद विशाल भारत में लिख रहे थे —''मैं यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्चकोटि की रचनाएँ ज़रूर छोड़ जाऊँ लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही है ।''[1] इस समाजवेत्ता, यथार्थनिष्ठ उपन्यासकार ने अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्य एवं राजनीति का प्रश्न हल किया । उनकी लड़ाई के सर्वत्र दो मोर्चे हैं —(1) विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों की गुलामी से मुक्ति, (2) उसके सहायक देशी सामन्तवाद और देशी पूँजीवाद के शोषण से मुक्ति । किसी पार्टी की पक्षधरता से दूर उनका साहित्य धूर्तता अन्याय और शोषण से घृणा करना सिखाता है । जिस ठंडे लिजलिजे किस्म से राजनीतिक नेता उस युग में 'जनता' की चर्चा करते थे, उसके ठीक विपरीत 'देश' से प्रेमचंद का तात्पर्य उस साधारण जनता से है जो अकाल, भुखमरी, शोषण की पूँजीवादी-सामन्तवादी मशीन के खूनी पंजे में जकड़ी जाकर तबाह हो रही थी । इसी से 'सेवा-सदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है जो धर्म, कानून और सम्पत्ति के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए वेश्यावृत्ति की मूल प्रेरक शक्तियों को अनावृत्त करती है ।[2] 'गबन' का देवी दीन ज़माने को गहराई से समझ गया है । जनता से दगा करने वाले नेताओं की वास्तविकता को पहचानकर भविष्य को देखता हुआ वह मानो कहता है —— ''अरे तुम क्या देश का उद्धार करोगे... गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है... अभी तुम्हारा राज नहीं है तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो ; जब तुम्हारा राज हो जाएगा तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे ।'' रमानाथ जानता है कि भविष्य में ''बहुमत किसानों और मजदूरों का ही होगा ।'' राष्ट्रीय आन्दोलन के संचालन के उस युग में सूरदास का कथन —'कि जीत हमारी होगी'— भारत की अजेय जनता की आवाज़ है । 'कर्मभूमि' का अमरकान्त

1- प्रेमचंद और उनका युग : डा०रामविलास शर्मा, पृ० 158 पर उद्धृत

2- प्रेमचंद ने विस्तार से दिखलाया है कि इस समाज-व्यवस्था में सम्पत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्यावृत्ति को प्रश्रय ही नहीं देते, वेश्याओं को जन्म भी देते हैं । इसके साथ ही सुमन का उत्तर भारत के नव जागृत नारीत्व का उत्तर है— ''क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो?जहाँ मजूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूँगी।''

उस युग के ढीलापोली करने वाले नेताओं का प्रतिरूप है । 'गोदान' में शोषण की सूक्ष्म-प्रक्रिया की पैनी पकड़ होने के साथ ही होरी - गोबर का वार्तालाप एक पिछड़े किसान और नए अधिकारों को पहचानते वाले एक नए किसान की टक्कर है ।

समाज-विकास की उन शक्तियों की पहचान उनके कथा-साहित्य में भी उभरती है । उनकी 'शतरंज के खिलाड़ी' अपने युग की साहित्य एवं कला - संबंधी दृष्टि — 'कला कला के लिए' — पर व्यंग कसती है तो 'सवा सेर गेहूं' सामंती शोषण की कथा है । 'पूस की रात' और 'कफ़न' कहानियों में प्रेमचंद उस निष्क्रियता जनित सनकीपन का मूल कारण बताते हैं —''जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ बेहतर नहीं थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी ।'' 'समर यात्रा', 'शराब की दुकान' आदि कहानियों में वह अंग्रेजी राज्य से लड़ने वाली जनता का उत्साह दिखाते हैं जो नेताओं की मनोवृत्ति के ठीक विपरीत लड़ाई को अपनी लड़ाई समझती है । किसान-परिवारों के विघटन को चित्रित करने वाली प्रथम कहानी उनकी 'अलग्योझा' ही है यद्यपि वह यह समझ पाने में अक्षम हैं कि मजदूर की ही वह अकेली शक्ति है जो किसान-जनता को मुक्त कर सकती है । 'कफ़न' और 'गोदान' तक में परिस्थितियों को बदलने वाले सक्रिय पात्र सामने नहीं आते तो इसका मूल कारण उनकी भावसंवेदना में मूल स्वर-परिवर्तन के बावजूद सतत विद्यमान रहने वाली सामाजिक विसंगतियां हैं । 'प्रेमाश्रम' के गांधीवादी स्वप्नों से अब वह बहलने वाले नहीं हैं । वस्तुतः प्रेमचंद बहुत सी असंगतियों के बीच से गुज़रते हुए यथार्थवाद की ओर अग्रसर थे ।[1]

1- उदाहरणार्थ 'काव्याकल्प' में वे अध्यात्म की ओर मुड़ जाते हैं, कभी-कभी भाग्यवाद की बात करते हैं और सबसे बड़ी असंगति तो —जैसा कि डा0 रामविलास शर्मा ने दिखाया है —उनके उस कथन में है जहां वह ह्रासशील साहित्य को भी प्रगतिशील मानने पर विवश होते हैं यह कह कर कि साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है ।

''आने वाला ज़माना अब किसानों और मजूरों का है, दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है''[1]— सन् 1919 में ही 'ज़माना' में प्रेमचंद लिख रहे थे —'' क्या यह शर्म की बात नहीं है कि जिस देश में नब्बे फ़ीसदी आबादी किसानों की हो, उस देश में कोई किसान-सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो।''[2] यह सब प्रेमचंद उस समय लिख रहे थे जब कांग्रेस ने जननेतृत्व संभाला भी न था और सन् '23 में ही कांग्रेसी नेतृत्व में अविश्वास प्रगट करते हुए वह लिख रहे थे —'' मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूं जो कोतहुन्नास (छोटे लोगों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाए''। राष्ट्रीयता का व्यवसाय करके जनता को ठगने वाले पात्रों की निन्दा करते हुए वह अपने युग की गांधीवादी विचारधारा एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों से ऊपर उठ कर वह सामाजिक सम्बन्धों को बदलना चाहते हैं।[3] उदाहरणतया, सत्याग्रह की आवश्यकता एवं अहिंसा की सीमाओं को पहचानते हुए ही मानो वह लिख रहे थे —'' आत्मबल पशुबल का प्रतिकार न कर सका''— लेकिन —''संध्या समय प्रीतिभोज हुआ, छूत और अछूत एक साथ बैठ कर एक ही पंक्ति में खा रहे थे। यह सूरदास की सबसे बड़ी विजय थी।''[4] अपने प्रत्येक उपन्यास में वह जनता को नए संघर्षों से नयी चेतना ग्रहण करते तथा नए सबक सीखते दिखाते हैं — और वह भी उस युग में जब प्रथम असहयोग

1- विविध प्रसंग, खंड 1, पृ0 268

2- चिट्ठी पत्री खंड 1, पृ0 130

3- ''लोकमतवादियों ने निश्चय कर लिया कि वर्तमान व्यवस्था का अन्त कर देना चाहिए जिसके द्वारा जनता को इतनी विपत्ति सहनी पड़ी''— रंगभूमि, पृ0 420

4- रंगभूमि : प्रेमचंद, पृ0 428

आन्दोलन-जन्य निराशा , विक्षोभ और निष्क्रियता की भावना जनता में फैल रही थी ।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त करने में भी प्रेमचंद वस्तुतः अपने युग के अन्य राजनीतिज्ञों एवं साहित्यकारों से आगे हैं । 'प्रेमाश्रम' के बलराज को ज्ञात था कि रूस के पास कोई और देश बलगारी है ''जहाँ किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।'' अपने युग के साहित्य संबंधी छायावादी मूल्यों का अतिक्रमण करते हुए जनवादी साहित्य की उपयोगिता बतलाते हैं — ''साहित्य का उत्थान अब राष्ट्र का उत्थान है ।'' वह ऐसी कला की माँग करते हैं जिसमें 'कर्म का संदेश हो'। साहित्य के समाज-अपेक्षी पक्ष पर उनका बल उन्हें उनके समकालीनों की वैचारिक चेतना से आगे बढ़ा हुआ दिखाता है । प्रेमचंद ने अंग्रेज-भक्तों की सबसे बड़ी कमजोरी — जनता से उनकी दूरी-को समझ लिया था । उनके साहित्य में व्यक्त होने वाली जनता के प्रति उनकी दृढ़ आस्था भी उनके युग की साहित्यिक-राजनीतिक सीमाओं के अतिक्रमण की द्योतक है । जनता के पिछड़ेपन और अशिक्षा का रोना-रोने वालों के लिए उनका उत्तर है— ''और चाहे जनता को आप जो इल्जाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है । आपने समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है उस पर वह चाहे पूरी न उतरे, लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है ।'' इसीलिए प्रेमचंद के कृतित्व की कलात्मक क्षमता और सृजन-क्षमता का स्रोत समष्टि ही है क्योंकि ''Intelligentia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता से ही आता है ।'' 'क्रांतिकारी

1- सन् '23 में ही वे लिख रहे थे — ''खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहक होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं, जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है । हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगा कर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना । अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कोनैन (इहलोक-परलोक) की दौलत खो बैठेंगे, लेकिन हारने के बाद, पटखनी खाने के बाद, गर्द झाड़ कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर खम ठोक कर हरीफ से कहना चाहिए कि एक बार और'' — चिट्ठी पत्री भाग-1, पृ0 133-4

यथार्थवाद' की अतिरंजित प्रवृत्ति से वे सदा बचते रहे ।[1] भारतीय साहित्य में किसानों की सही जिन्दगी की सजीव तस्वीर देने वाले वह पहले लेखक हैं जिनका कृतित्व अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद इतना भास्वर है कि उस तक किसी अन्य की पहुंच नहीं है । यहाँ तक कि डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार उनके साहित्य की मुख्य कसौटी ही यह है कि वह किसान ज़मींदार संघर्ष को स्वातन्त्र्य -संग्राम के लिए आवश्यक मानते हैं अथवा नहीं । अपने कृतित्व में व्याप्त असंगतियों, जो वस्तुतः पूंजीवादी युग में वर्ग के अस्पष्ट स्वरूपों से जनित हैं, को क्रमशः दूर करते हुए प्रेमचंद निरन्तर यथार्थवाद की ओर अग्रसर होते रहे हैं ।

प्रेमचंद की 'सेवासदन' से 'गोदान' तक की यात्रा तत्कालीन संक्रमण शील भारतीय समाज की एक सम्पूर्ण विकास यात्रा है । दृष्टि -सम्पन्न सजग, सप्राण व्यक्ति के रूप में यथार्थ जीवन से प्रेमचंद का सक्रिय सम्बंध किस रूप में है, इसे संक्षेप में पूर्णरूपेण समझ पाने के हेतु डा० रामविलास शर्मा के शब्दों को व्यवहृत करते हुए हम कह सकते हैं कि —'' जिस समय विधवा - विवाह को भी एक क्रांतिकारी सुधार समझा जाता था, उस समय नारी मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवासदन' लिखकर वेश्यावृत्ति के सामन्ती आधार को उघार कर पाठकों के सामने रख दिया । जिस समय जलियाँ वाला बाग और रौलट एक्ट से भारत का पददलित आत्मसम्मान जाग उठा था, उस समय प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' लिख कर किसानों पर अंग्रेजी राज्य और उसके दलालों के अत्याचार दिखला कर बतलाया कि स्वाधीनता आन्दोलन को पूरी ताकत इन समस्याओं को साथ लेने से मिलेगी । जिस समय देश में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था, प्रेमचंद ने 'रंगभूमि'

1- इस संबंध में उनका मत द्रष्टव्य है कि —''कथाकार कहानी लिखता है किन्तु वास्तविकता का ध्यान छोड़कर, शब्दों की झड़ी लगाकर अतियुक्ति से जोश पैदा करने की कोशिश करता है, वह क्रांति की लपटों से दसों दिशाएँ लाल कर देता है, भूकम्प और प्रलय से धरती-आकाश एक कर देता है, उसके वर्णन से जनता की दशा का पता तो नहीं चलता लेकिन अपने शब्द जाल में वह पाठक को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करता है कि क्रांतिकारी यथार्थवाद यही है ।''

में दिखलाया कि जनता अब भी लड़ रही है, वह हारी नहीं है, वह जीतेगी। 'गोदान' में उन्होंने पढ़े-लिखे नौजवानों और किसानों की एकता की तरफ संकेत किया और किसानों के महाजनी शोषण का चित्र खींचा जिसे किसान आन्दोलन में तब जगह न दी गई थी। उन दिनों जब मंदिर-प्रवेश को अछूत समस्या हल करने का सबसे बड़ा साधन माना जाता था, उन्होंने कर्मभूमि में अछूत - किसानों और खेत-मजदूरों की भूमि समस्या पर दृष्टि-केन्द्रित की और उसमें लगानबंदी की लड़ाई को उनकी मुख्य लड़ाई बताया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में संघर्ष और स्वाधीनता आन्दोलन के जो रूप दिखाए, वे सब हमारे सामने आए।''[1]

इस युग के अन्य दूसरे जागरूक साहित्यकार के रूप में निराला के हस्ताक्षर हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया का स्रोत उनका भावबोध है जो उनकी विचार-धारा से सम्बद्ध तो है किन्तु उसकी प्रतिच्छवि मात्र नहीं। देश की तत्कालीन राजनीति एवं राष्ट्रीय प्रेम से भिन्न स्वाधीनता प्रेम उनके यहाँ विभिन्न रूपों में प्रगट हुआ है। उनके काव्य में निरन्तर पाई जाने वाली ऊर्जा का अक्षय स्रोत अपने युग से उनका गहरा संबंध है, ठीक वैसे ही जैसे मिल्टन पहली सामन्त-विरोधी क्रांति का प्रबल समर्थक था। उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज के विभिन्न मुद्दों पर न केवल विचार किया अपितु उनके सर्वांगीण विकास एवं दोषों के परिहार का प्रयास भी किया। इसके लिए उन्होंने न केवल साहित्य रचना अपितु पत्रकारिता का भी आश्रय लिया। सन् 20-22 के उस युग में जब 'राष्ट्रीय' कहे जाने वाले पत्रों में भारतीयों के लिए छोटी-मोटी नौकरियों की माँग, विदा-पार्टी, स्वागत समारोहों आदि का उल्लेख मात्र रहता था, निराला ने 'सुधा' का सम्पादन करके पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नवीन प्रतिमान स्थापित किया।

भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक स्वरूप की पहचान कर निराला ने साम्राज्यवादी आर्थिक नीति का विरोध एक ओर तथा उसकी दमन और सुधार नीति की आलोचना दूसरी ओर की।[2] पूर्णस्वाधीनता की माँग करते हुए, ब्रिटिशशाही

1- प्रेमचंद और उनका युग : डा०रामविलास शर्मा, पृ० 157-8

2- (i) "साम्राज्यवाद इंग्लैंड की राजनीति का मूल है"—सुधा, अक्टूबर '32, स०टि०।
(ii) "यहाँ के आंदोलन को दबा लेने के बाद सरकार की इच्छा है कि अपनी मर्जी के अनुसार देश के नालायक आदमियों को कुछ हक दे दें अन्यथा अगर यहाँ की माँग पूरी करनी पड़ी तो ब्रिटेन का बहुत बड़ा स्वार्थ बरबाद होगा''— सुधा, जून '30, स०टि०।

के दमन का बर्बर चित्र खींचते हुए उन्होंने जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित किया —— 'जागो फिर एक बार''। सुधारों से सन्तुष्ट होने वाली लिजलिजे किस्म की राजनीति के विषय में निराला सन् '29 में ही लिख रहे थे —— ''अब तो क्रियात्मक और ठोस बातों की ज़रूरत है। उसके बिना युवक भारत की जाग्रत स्वातन्त्र्य लिप्सा शान्त नहीं की जा सकती।''[1] भारत को विश्व-राजनीति से दूर रखने की ब्रिटिश नीति का निराला उसी समय विरोध कर रहे थे जब पूर्णस्वाधीनता की माँग से हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन आपूर्ण हो उठा था। साम्प्रदायिकता के ज़हर को प्रतिरोध करते हुए निराला अंग्रेज़ों की साम्प्रदायिक भेद-नीति का विरोध, कांग्रेस का समर्थन और उससे भी आगे बढ़ कर एक सामान्य मानवता के स्तर पर निम्नजनों के संगठन का उपाय सुझाते हैं। उनकी दृष्टि सदियों से मार खाई, उपेक्षित, उत्पीड़ित जनता पर है। उपेक्षित के उन्नयन का यही प्रयास उनकी 'अधिवास' की 'मैं शैली' वाली कविता से लेकर परवर्ती काव्य ('बेला', 'नए पत्ते') तक का मूल स्वर है। एक ओर 'देवी', 'भिक्षुक', 'दीन', 'बनबेला', 'नर्गिस' आदि रचनाएँ लिख कर निराला काव्य के विषय- संबंधी मूल्यों का अतिक्रमण कर रहे थे तो दूसरी ओर छायावादी रूप - विषयक मूल्यों को भी तोड़ते हुए मुक्त छन्द का आह्वान भी कर रहे थे ——

''प्रिये छोड़ कर / बंधन मय छंदों की छोटी राह

अर्ध विकच इस हृदय कमल में आतू'' 'जुही की कली' उनकी रचनात्मकता का एक तीसरा आयाम है जो भावबोध और रूपविधान दोनों ही स्तर पर नवीन प्रतिमान हैं। उनकी परम्परागत काव्य-मूल्यों का विरोध करने के कारण ही निराला को सदा 'ब्राह्मण समाज से ज्यों अछूत' की भाँति निष्कासित होने की पीड़ा सालती रहती है किन्तु फिर भी वह (निराला) सम्पूर्ण समाजी ढाँचे की बनावट पर निरन्तर प्रहार करते रहते हैं। सन् '30 से पहले उनकी रचनाओं में 'क्रांतिकारी धीर' और 'जनता' में कुछ अन्तर रहता है किन्तु सन् '30 के पश्चात् यह अन्तर बिल्कुल मिट जाता है। दरअसल निराला ने उपेक्षितों

1- सुधा, दिसम्बर 29, सं०टि०3

उन्नयन की अपनी स्वभावगत और रचनात्मक संवेदना को मार्क्सवाद की विचारसरणियों में और भी अधिक सशक्त ढंग से पहचान लिया था। राजनीतिक व्यक्तित्वों के आस-पास घिरे प्रभामंडल एवं नाम-महात्म्य से प्रेमचंद की भाँति निराला भी दिग्भ्रमित नहीं होते, इसी कारण वह अपने युग के राजनीतिज्ञों की श्रेणी से ऊपर उठकर उनकी आलोचना करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं।[1] 'अलका' उपन्यास में, उदाहरणार्थ, जहाँ एक ओर गांधीवाद का समर्थन है तो वहीं राजनीतिक गतिविधियों का मूल्यांकन करते हुए निराला दिखाते हैं कि कांग्रेस नेता किस प्रकार दोनों ओर रंगते हैं। अजित तो यहाँ तक कहता है —''कांग्रेस से न होगा तो स्वतन्त्र रहकर काम करेंगे।'' (अलका, पृ0 55) उस समय के नेताओं का जनता से अलगाव, धनी परिवार, विलायती शिक्षा, हिन्दी भाषा के प्रति उपेक्षा, मंच पर जनता को मुग्ध करने की अभिनयकला, पूँजीवादी अखबारों द्वारा इन्हीं का धुआंधार प्रचार — यह सब कुछ निराला के समक्ष सूर्य के प्रकाश सदृश स्पष्ट था। इसी ढुलमुल वर्ग की प्रवंचनापूर्ण नीति तथा नेताशाही के प्रति जनता को सावधान करते हुए निराला दिखाई पड़ते हैं — ''होता फिर खड़ा इधर को मुख कर कभी उधर'' तथा ''मेहगू किसानों का जमींदारों से भी मिला हुआ नेता है'' (अलका)।

युग की राजनीति से ऊपर उठकर, जनता और उसके आंदोलन के प्रति नेताओं के दृष्टिकोण के विपरीत निराला देशी राजाओं के साथ विदेशी तत्वों के गठबंधन की आलोचना करते हैं, राष्ट्रीयता का संबंध समाज के पुनर्गठन से जोड़ते हैं, राजनीति के प्रचार का उद्देश्य किसान-शिक्षा मानते हैं (और 'अलका' में परिवर्तित चेतना को चित्रित भी करते हैं) प्रत्येक समस्या पर राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से विचार करते हैं तथा विभिन्न संदर्भों में क्रांति की चर्चा करते हैं जो एक ही क्रांति के विभिन्न स्तर हैं। उनके यहाँ क्रांति की सार्थकता ब्रिटिश

1- 'अलका' में श्रीमंट ने गांधी महारानी के प्रताप की जो बात कही, वह संवाद-पत्रों द्वारा अन्धश्रद्धा जगाने के लिए किया गया संगठित प्रयास था — देखें सेठ शंकर का कथन, 'अलका', पृ0 45

राज्य एवं सामन्ती व्यवस्था के दोहरे उत्पीड़न से किसानों की मुक्ति में निहित है । उनके यहाँ सामाजिक क्रांति शुरू होती है – निम्न जातियों से । जातिप्रथा का विनाश, समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन उनके लिए एक राजनीतिक कर्तव्य था, गांधी जी की भांति वह कोई 'रचनात्मक कार्यक्रम' न था । इसलिए राजनीतिक आन्दोलन के लक्ष्य, उसके स्वरूप, उसे पाने की पद्धति पर निराला के विचार अपने युग के राजनीतिज्ञों से बहुत आगे थे । उनके अनुसार यह व्यवस्था इतनी गल गई थी कि उसमें सुधार की गुंजाइश न थी और भारतीयों – विशेषतः हिन्दुओं - के लिए यह आवश्यक था कि वह ''अपने समाज का सुधार ही नहीं किन्तु आमूल परिवर्तन करें ।''[1]

निराला का मानववाद प्राचीन रूढ़ियों का विनाश एवं अन्धविश्वासों को निर्मूल कर के ही नए सिरे से गठित करना चाहता था । इन्हीं अर्थों में वह अपने युग की गांधीवादी - समाजवादी विचारधारा से आगे बढ़े हुए हैं । जातीय समीकरण के इस युग में जहाँ गांधी जी अछूत-समस्या का हल मात्र मंदिर - प्रवेश में देख पाते थे वहीं निराला वर्णव्यवस्था, दंभ, द्विजत्व और पाखंड के विरुद्ध आक्रोश प्रदर्शन करते हैं —'ये कान्य कुब्ज कुल कुलांगार'' तथा और भी —''तोड़ कर फेंक दीजिये ये जनेऊ जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं, जो बड़प्पन का भ्रम पैदा करता है... तभी आप महामनुष्य हैं '' (सुधा 16 अगस्त'33, सं०टि०1) 'अरे इन दोउन राह न पाई' सूत्र का भाष्य मानों निराला की ऐक्य - भावना है जबकि राजनीति में साम्प्रदायिकता के नाम पर अलग-अलग चुनावक्षेत्रों, प्रतिनिधित्व आदि की मांग हो रही थी । उस काल में जबकि ''राजनीति में सौदे बाजी हो रही थी, अलग चुनाव क्षेत्र, इस सूबे में उनका बहुमत है, इसमें अल्पमत, वहाँ जनसंख्या के अनुपात से इतने प्रतिनिधि ज्यादा चुने जा सकेंगे, वहाँ कम, प्रान्तीय सरकारी

1- सुधा, जून'30, सं०टि०10

में इतने अधिकार मिलेंगे, केन्द्र में इतने, मार्ले-मिन्टो ने यह कहा, क्रिप्स और पेथिक लारेंस ने यह कहा, — सौदेबाजी की इस राजनीति से दूर निराला हिंदू - मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए गालिब, नज़ीर, तुलसीदास और जयशंकर प्रसाद में विचारसाम्य की तलाश कर रहे थे।''[1]

संक्षेप में निराला सामाजिक रूढ़ियाँ तोड़ते थे तो गांधी उनसे समझौता करना चाहते थे। फलतः भाषा संबंधी गांधीवादी नीति से निराला की नीति भिन्न रहती है। उनका यह क्रांतिकारी दृष्टिकोण गांधीवादी नीति और व्यक्तिवादी आतंकवाद दोनों से भिन्न मौलिक रूप से क्रांतिकारी है, जो धार्मिक भेद-भाव से लेकर वर्ण-भेद तक मिटा देना चाहता है। गांधीवादी सिद्धान्तों और बुर्जुआ नीति के विपरीत उनकी क्रांति की धुरी किसान है। साहित्य का क्रांति की प्रेरक शक्ति होने के अतिरिक्त स्वयं उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता है। अतः साहित्य को राजनीति से कुछ अधिक व्यापक, युग की 'एडवांस गार्ड' मानते हैं और भारत के स्वाधीन चेता अभावग्रस्त साहित्यकारों से यह आशा रखते हैं कि वे सामाजिक आन्दोलनों का साथ दें। वे साहित्य की सूक्ष्म उपयोगिता स्वीकार करते हैं। अतः स्वाधीनता आन्दोलन की वे प्रवृत्तियाँ जो गांधीवादी सीमाएँ तोड़ कर आगे बढ़ रही थीं, निराला में केन्द्रित हो गई थीं।

अपने युग के साहित्यिक मूल्यों से भी उनका विद्रोही स्वर गूंजता है। सन्'23 में जब छायावादी का ही सर्वत्र प्राबल्य था, तब उस काल में भावोच्छ्वास वाली उस कविता की मूल कमजोरी पहचान कर निराला लिख रहे थे कि कविता से मनुष्य कल्पना प्रिय हो जाता है।[2] 'गद्य' को 'जीवन संग्राम की भाषा' कहते हुए यथार्थवाद के विषय में उनका मत देखिये —

1- निराला की साहित्य साधना (भाग 2) : डा० रामविलास शर्मा, पृ० 53

2- ''कविता की भाषा से मनोरंजन तो होता है परन्तु वह जीवन संग्राम के काम की नहीं होती। दूसरे कविता-प्रिय मनुष्य कल्पना-प्रिय हो जाता है। उससे काम नहीं होता।'' —''भाषा की गति और हिन्दी की शैली'', 'समन्वय', आश्विन, 1980

''यह समय तब आता है जब जाति अत्यन्त कर्मठ होती है, जब स्वप्नों के प्रभात का सब स्वर्ण दोपहर की धूप में गल जाता है''

निराला की यह टिप्पणी हिन्दी के तत्कालीन प्रगतिशील चिन्तन का निचोड़ है जहाँ और साहित्यकारों के पहुँचने में अभी देर थी। सन्'२२ में ही वे कहते हैं —

''शैली तो भारत को बहुत ही प्यार करता था... ... हमारी हिंदी को ऐसी ही भावना से युक्त साहित्यिकों की आवश्यकता है। सत्य की रक्षा के लिए साहित्यिक अपने प्राणों का बलिदान कर दे... साहित्यिक उत्कर्ष और मुक्ति का यही मार्ग है। हिंदी में बहुत करना है, बहुत पढ़ा है, बहुत पीछे हैं हम'' (सुधा, दिसम्बर'32)

सम्पादकों को वह ऐसी 'स्वाधीनता का ढोल' कहते हैं जो दूसरों के हाथों की मधुर थपकियों से अपनी आन्तरिक पोल के कारण केवल बजते हैं।[1] प्रेमचंद की भांति निराला के राजनीतिक एवं भाषा-संबंधी विचारों में एक आन्तरिक संगति है, अतः वह भी गांधीवादी भाषा नीति की आलोचना करते हैं जो सदा ब्रिटिशशाही के सुधारवादी खूँटों से बंधी रहती है। उस छायावादी युग में जब आलोचना और साहित्य-प्रकाशन को भिन्न समझ कर उनमें पार्थक्य स्थापित किया जाता था, तब निराला आलोचना को 'साहित्य का मस्तिष्क' कह कर साहित्यिक विकास का श्रेय अनेक अंशों में उसे प्रदान कर रहे हैं।

सारतः निराला के चिन्तन की प्रमुख विशेषता भीतरी तत्व एवं बाह्य रूप की परस्पर सम्बद्धता है —'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न''। उनकी रचनाएँ औसत प्रगतिवादी रचनाओं से इन अर्थों में भिन्न हैं कि उनमें पूँजीवाद के समानान्तर ही सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद के खिलाफ भी विद्रोह के स्वर हैं। इसी से युग की विचारधाराओं के मध्य परिवेश और भविष्य को स्पष्ट रूप से देख सकने वाली निराला की दृष्टि उन्नत है। वैज्ञानिक साधनों के उपयोग, देशी पूँजीवाद के प्रति रुख, विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों की सही परख,

---

1- अलका, पृ० 45

क्रांति के भीतरी सामाजिक तत्वों के संबंध में क्रांतिकारी जन-उभार के समय गांधी-नेहरू की राजनीति एक छोर पर थी तथा संकीर्ण राष्ट्रवादियों से दूर निराला की राजनीति दूसरे छोर पर। जब नेहरू जी अपने देश के साहित्य से अपरिचित बने रह कर उस पर 'दरबारी ढंग की कविता' करने का दोषारोपण कर रहे थे, उस समय निराला की साफ आवाज सुनिये —

''क्रांति साहित्य की जननी है। नवीनता तभी पैदा होती है और साहित्य का रथ कुछ कदम आगे बढ़ता है...... ... वर्तमान पीड़ितों का जो मसाला समाज में है वह भी उसे उड़ाने के लिए काफी है। ऐसी सक्षम रचनाएं साहित्य को नया जीवन दे सकेंगी।''[1] 'अप्सरा' का चंदन, 'प्रभावती' की जमुना, 'अलका' का प्रभाकर, 'कलि कारनामे' का मनोहर विभिन्न रूपों में जनता के उसी वर्ग की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सेवा करने वाले सदस्य हैं जिनके प्रतिनिधि 'देवी' की पगली भिखारिन, चतुरी, बिल्लेसुर और कुल्ली भाट हैं। निराला सर्वत्र इसी वर्ग के उत्थान, संघर्ष एवं कठिनाइयों के चित्रण के माध्यम से नवमानवतावाद की अन्तर्धारा प्रवाहित करते हैं। यह उसी साहित्य की आवाज है जो राष्ट्रीय आन्दोलन जो ,निम्न जातियों को अपने अन्दर समेट लेने का प्रयास कर रहा था। प्रेमचंद और निराला इन्हीं अर्थों में युगद्रष्टा थे कि राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट देख रहे थे, तथा साम्राज्य-विरोधी क्रांति के लिए सामन्त-विरोधी क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। विभिन्न युग गत असंगतियों के बावजूद उनके साहित्यिक प्रवाह की मूल दिशा का पता लगाना कठिन नहीं है। काव्य रूप तथा भाषा शैली के क्षेत्र में भी ~~शुक्ल~~ निराला जी क्रांति उपस्थित करते हैं। जनभाषा से दूर होती हुई उस काल की काव्य भाषा को सरल बनाने के प्रयास में वह न केवल मुक्त छंद का प्रवर्त्तन करते हैं अपितु गद्य की भाषा में भी व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियां लिखते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी की प्रस्थापनाओं ने साहित्य-जगत में वस्तुनिष्ठ आदर्शवादी आलोचना का सूत्रपात किया। सन् '27 में प्रकाशित 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक उनका निबंध छायावादी मूल्यों एवं रहस्यवादी प्रवृत्ति के नकार

1- सुधा, फरवरी '35, पृ सं०टि०।7

का प्रतिफल है । जाति-प्रथा, ऊँच-नीच, सामन्ती-व्यवस्था, धर्म आदि के आडम्बर से जुड़े भाववाद - रहस्यवाद पर शुक्ल जी ने भारतीय - अभारतीय का प्रश्न छोड़ कर अकाट्य प्रहार किया । छायावाद के अबुद्धिवाद, निराशावाद, कलावाद, भाग्यवाद-जिसका संबंध अलगाव, मनोबल की क्षीणता से है — का खंडन किया[1] तो दूसरी ओर छायावादी कविता में लोक-जीवन संबंधी कविताओं का समर्थन भी उन्होंने किया है । पंत के प्रकृति-चित्रण की जहाँ उन्होंने आशंसा की, वहीं बादल के दर्शन से 'तृप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक' उनकी दृष्टि नहीं पहुँची, इसकी शिकायत भी की है । विषय-वस्तु एवं काव्यरूप — दोनों में सबसे कम छायावादी होने के कारण निराला को उन्होंने यथार्थवाद के सबसे अधिक निकट सिद्ध किया, कारण छायावादी वेदना का 'प्रकांड-प्रदर्शन' उनमें सबसे कम है ।

शुक्ल जी ने साहित्य को संकुचित भाववादी - व्यक्तिवादी, कलावादी धारणाओं से मुक्त करके, भावों को उनके सामाजिक आधार से जोड़ कर, सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया —— " काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते । उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं । 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हुए । एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते ।"[2] शुक्ल जी ने मानव-जीवन के वैविध्य तथा यथार्थता को आधार बना कर स्थायी भावों की नई व्याख्या की । अलंकारों पर उनका प्रहार नए भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन का एक अंग है । वह साहित्य को मात्र आनन्द की वस्तु नहीं मानते ।[3] क्योंकि उनके अनुसार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य मान लेने की इस प्रवृत्ति ने काव्य की महत्ता को सीमित करते हुए उसे नाच-तमाशे की भाँति बना दिया है । जीवन के वैविध्य को ध्यान में रख कर ही मौलिकता का ह्रास करने वाले रीति-ग्रंथों का उन्होंने विरोध किया । इस रूप में उन्होंने सामन्तीवर्ग के निठल्लेपन, चाटुकार, साहित्यकार वर्ग और उसकी 'मका-

1- रस मीमांसा : आचार्य शुक्ल, पृ0 101, 201, 227

2- वही, पृ0 201

3- उन्होंने रस की लौकिक व्याख्या की ।

ध्वजवादी' वास्तविकता पर कठोर प्रहार किया जिसका ह्रास अनिवार्य था। शुक्ल जी ने इस प्रकार 'वर्ग' शब्द का स्पष्ट प्रयोग न करते हुए भी रीतिकाल एवं छायावादी युग का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। देशभक्ति, जनहित एवं जातीयता के साथ ही कलात्मक सौंदर्य के हामी शुक्ल जी ने साम्न्तवाद, साम्राज्यवाद का विरोध एक ओर किया, साथ ही गांधीवाद की मुख्य प्रस्थापना - निष्क्रिय प्रतिरोध का विरोध दूसरी ओर किया जो मूलतः जनता के क्रांतिकारी विरोध को रोकने और साम्राज्यवादी समझौते के काम आती है।[1] साम्राज्यवाद में अलग-अलग वर्गों की भूमिका उनके सामने स्पष्ट होने पर भी उसके लुटेरे स्वरूप को पकड़ न पाने के कारण ही अपने युग के लिहाज से वे आगे हैं।

साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंधों के विषय में उनका मत है कि साहित्य में राजनीति उसके अपने गुणों की रक्षा करते हुए ही प्रभाव आए।[2] क्योंकि सामाजिक प्रश्नों की ओर से साहित्यकारों की घोर उदासीनता महाभयानक रोग, बल्कि मृत्यु का लक्षण है। साहित्य के लिए तत्कालीन जन-आंदोलन से जुड़ने की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने उसकी दो विशेषताओं पर बल दिया —

(1) जन समुदाय को साथ लेना

(2) क्षोभ की सार्वभौम धारा के अंग के रूप में आना — अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना।

दिनकर, नवीन आदि उत्तर-छायावादी कवियों के कृतित्व को उन्होंने 'हुंकारवाद टंकारवाद' संज्ञा से अभिहित करते हुए उसे यथार्थवादिता और क्रांतिकारिता से दूर बताया। किसान एवं मजदूर आन्दोलनों के अभ्युदय काल में ही नवीन काव्य पर उनके प्रभाव का जो ज़िक्र तथा विश्लेषण शुक्ल जी ने किया, वह उनके अन्य समवर्ती साहित्यकारों की पहुंच के बाहर की वस्तु था। शुक्ल जी का दृष्टिकोण सुसंगत रूप से भौतिकवादी न होते हुए भी मूलतः वस्तुवादी तथा उनकी तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक होने के अतिरिक्त गतिशीलता को प्रश्रय देने वाली है। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में उनका मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है —

1- रस मीमांसा, पृ० 64-65

2- वही, पृ० 22 ''यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाए... ... ... कवि का''

''आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का विरोध किया, साहित्य को धनी वर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामन्ती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़न का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतावनी दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोलस्तोय-पंथ, रहस्यवाद और अध्यात्म की पुकार का रहस्य प्रगट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की । इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नए साहित्य में अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी की ।''[1]

युग की परिवर्तित होती हुई चेतना पंत, प्रसाद, महादेवी में किस प्रकार परिलक्षित हो रही थी, इसका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है । पंत जहाँ सीधी-सीधी युगगत मनोवृत्ति से अपनी बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त करते हैं, वहीं प्रसाद पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से परिचालित रहे हैं । महादेवी का काव्य अद्यतन रहस्यवादी स्वरों से झंकृत होता रहा । उत्तर-छायावादी कवियों में सामाजिक यथार्थ की उतनी पैनी पकड़ के अभाव के बावजूद परिवर्तन की आकांक्षा सर्वत्र परिव्याप्त है । प्रेमचंद के पथ पर अग्रसर होने के प्रयास में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि कुछ उपन्यासकार मनोविश्लेषणवाद की राह में पहुँच गए थे । कुल मिलाकर बदलती परिस्थितियों ने साहित्यकारों की युगीन चेतना पर न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य डाला था । यह प्रभाव उस समय प्रेमचंद पर सबसे अधिक था जिन्होंने अपनी मूल संवेदना में बदलती परिस्थितियों के समानान्तर ही न केवल परिवर्तन किया अपितु युग के पथ-प्रदर्शन हेतु 'हंस' पत्रिका का सम्पादन भी किया ।

सारतः 'हंस' का अभ्युदय काल हिन्दी साहित्य -जगत का वह युग है जिसमें दो प्रकार के साहित्य का सृजन हो रहा था—(1) प्रथम वह धारा जो छायावादी कहलाती थी और क्रमशः जीवन के ह्रासशील पक्षों से जुड़ कर निरन्तर ह्रासित हो रही थी ।, (2) दूसरी वह धारा जो सामाजिक जीवन के यथार्थपरक पक्षों से जुड़कर निरन्तर विकासशील थी । यही नहीं, साहित्य एवं राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में आदर्शवाद की सीमाएँ टूट रही थी और यथार्थवाद की ओर स्वाभाविक

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डा0रामविलास शर्मा, पृ045

चरण-निक्षेप होने लगा था, दोनों ही क्षेत्रों में जन-सामान्य और विशेषतः किसान-मजदूरों का — प्रवेश हो गया था, कृषक - श्रमिक आंदोलन तेजी से फैल रहे थे, साहित्य एवं राजनीति के पारस्परिक संबंधों का प्रश्न बड़े जोरों पर था, देश समाजवादी चेतना एवं उसके परिणामस्वरूप पूर्ण स्वाधीनता की माँग से आप्लावित हो उठा था, विचार, साहित्य, राजनीति तथा समाज में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रवेश हो गया था। साहित्यिक चेतना युग का पथ-प्रदर्शन करती हुई ढुलमुल किस्म की राजनीतिक चेतना के आगे चल रही थी । फलतः छायावाद के विशाल वैचारिक सौंदर्यात्मक विस्तार तथा उसकी विभिन्न असंगतियों — यथा राष्ट्रीय जागरण की झलक एक ओर तथा युगीन परिस्थितियों से जनित निराशा दूसरी ओर, गाँधीवाद का सकारात्मक योगदान तथा उसकी असंगतियाँ आदि — को समेटते हुए प्राचीन, मध्ययुगीन तथा छायावादी काव्य विषयक मानकों के प्रति 'हंस' ने विप्लव खड़ा कर दिया । नए बौद्धिक तथा भावात्मक संवेदनाओं की इसी भूमि पर 'हंस' पत्रिका का जन्म हुआ जिसने युग की आशा - आकांक्षाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए एक नए प्रवर्त्तन को मूर्त रूप प्रदान किया ।

'हंस' अपने जन्म के प्रारंभ काल से ही एक नवीन रचनात्मक विद्रोही प्रवृत्ति की सूचना देता है जिसका प्रथमांक (जनवरी - फरवरी 1931) आत्मकथा विशेषांक रहा । मूलतः साहित्यिक पत्रिका होने पर भी इसने सम-सामयिक आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं को उठाते हुए उनके समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया । 'हंस' ने अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य एवं राजनीति से हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को परिचित कराया । वैज्ञानिक-निबंधों, आर्थिक समस्याओं, राष्ट्रीय जागरण, नारी-जागृति, समाजवाद-साम्यवाद, मशीनी पूँजीवादी सभ्यता, साम्राज्यवाद के शोषक स्वरूप, हिंदी साहित्य की समस्याओं तथा भाषा-समस्या आदि को उठाते हुए युग की परिवर्तित चेतना का वहन एवं नेतृत्व दोनों ही कार्य एक साथ किये । अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार के युग में 'हंस' ने सन् '33 में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर लेखनी चलाई । सन् '34 में ही एक सार्वदेशिक-साहित्य-संस्था की आवश्यकता पर बल देते हुए 'हंस' ने समस्त भारतीय भाषाओं की प्रगतिशील शक्तियों को एकत्र करने का प्रयास आरंभ किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय-

साहित्य की अवधारणा न केवल सामने आई वरन् सन्'35 तक आते-आते स्वयं 'हंस' ने उसके प्रतिनिधि पत्र के रूप में विभिन्न भारतीय भाषाओं की बिखरी हुई प्रगतिशील शक्तियों का आकलन एवं उनका अनुवाद कार्य प्रारंभ कर दिया। ''भारत के समस्त साहित्यों का मुखपत्र बनने की इच्छा से एक नई विशाल भावना को लेकर अवतीर्ण''होने वाले 'हंस' का उद्देश्य था — ''भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की साहित्य-समृद्धि को राष्ट्रव्यापी हिन्दी के द्वारा सारे भारत के आगे उपस्थित करना।'' अपने युग के साहित्यकारों से उसने माँग की अथवा अपेक्षा रखी कि ''वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोएं।''

लंदन में भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना पर 'हंस' ने हृदय से उसका स्वागत किया —''हमें यह जानकर सच्चा आनंद हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य से एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है... ... हमें वास्तव में ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रखा है। 'हंस' भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है... लेखक संघ के उद्देश्य भी बहुत कुछ इस संस्था से मिलते-जुलते हैं और कोई कारण नहीं कि दोनों में कुछ सहयोग न हो सके।'' भारतीय साहित्य परिषद् संबंधी सूचनाएं प्रकाशित करते हुए उसने लिखा —''साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं दी गई हैं लेकिन मेरे विचार में उसकी सबसे सुन्दर परिभाषा जीवन की आलोचना है... आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता, अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं होता, अगर वह हमारे सौंदर्य-बोध को नहीं जगा सकता, अगर वह हममें भावों और विचारों की स्फूर्ति नहीं डाल सकता तो वह इस ऊंचे पद के योग्य नहीं समझा जाता।''

'हंस' का स्वरूप उसी के शब्दों में — '' हंस अपने पाठकों को सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों पर छोटे तथा भावपूर्ण लेख देता है। यह उपरोक्त विषयों पर

जितना साहित्य प्रकाशित होता है उन सबकी आलोचना तथा प्रत्यालोचना भी अपने पाठकों के सम्मुख करता है । यह पत्र हर मास के पहले सप्ताह में प्रकाशित होता है —— '' अपने 'मुक्ता मंजूषा' शीर्षक स्तंभ में 'हंस' अपने समसामयिक अन्य पत्र-पत्रिकाओं के समाचार उद्धृत करते हुए उनकी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं व्यक्त करता था । 'नीर-क्षीर' शीर्षक स्तम्भ में विभिन्न विषयों पर नव प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा की जाती थी । 'हंसवाणी' पत्र का सम्पादकीय स्तम्भ था जिसमें प्रेमचंद तथा अन्य महत्वपूर्ण लेखक युग की ज्वलन्त समस्याओं पर अपने विचार लेखनीबद्ध करते थे । अतः प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में सभापति पद से अध्यक्षीय भाषण देते हुए प्रेमचंद का साहित्यकार के लिए यह कहना कि ''वह देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है'' मात्र एक कोरी उक्ति नहीं वरन् एक ठोस सच्चाई है, प्रेमचंद स्वयं जिसका मूर्त्त प्रमाण थे । प्रगतिशील-लेखक संघ से उनका संबंध केवल अध्यक्षता कर देने भर का नहीं था, उन्होंने इस आन्दोलन के लिए लगभग छः वर्षों की लम्बी अवधि में अविश्रान्त श्रम करके उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण किया था । इस रूप में प्रेमचंद एवं 'हंस' दोनों ही समाज का 'मशअलबरदार हरावल दस्ता' किस रूप में सिद्ध हुए, इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे ।

—

तृतीय अध्याय

प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में 'हंस' की भूमिका

साहित्य के सामाजिक संदर्भों की छानबीन तथा उनके माध्यम से अर्थवत्ता - मूल्यवत्ता का परिमापन - परिगमन यद्यपि अब कोई नई बात नहीं है तथापि एक संक्रांति काल में यह बात स्वयं में बहुत महत्वपूर्ण होती है । 'हंस' के उदय का काल भारतीय इतिहास में वह युग था जब भारतीय जनमानस के प्रत्येक क्षेत्र में परस्पर - विरोधी तथा अन्तर्विरोधी चिन्तन-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं । ऐसे समय में साहित्य के भीतर से ही साहित्य के मूल्य खोजने वाले साहित्य के पक्षधरों को इस तथ्य से आगाह करते हुए कि साहित्य को उसके मूल स्रोत से काट कर उसकी मानवीय तथा सामाजिक अर्थवत्ता को नष्ट न किया जाए — 'हंस' साहित्य संसार में उदित हुआ ।

सन् '29 में उठने वाली पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग के पीछे जनवादी शक्तियों का जागरण था । कृषक - मजदूर वर्ग में जागृति आने लगी थी तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली संस्था कांग्रेस — जो मुख्यतः सामन्ती, पूँजीवादी तथा नवशिक्षित मध्यवर्ग का संगठन थी —— उसकी उपेक्षा कर रही थी । इसके अतिरिक्त अतीत के अनुभवों ने न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद - उपनिवेशवाद के चरित्र का पर्दाफाश किया वरन् यह भी सिद्ध कर दिया कि अवसर पड़ने पर जनमत की उपेक्षा करके कांग्रेस साम्राज्यवादी शक्तियों से समझौता भी कर सकती है । फलतः एक ओर तो देश में नवजागृति तथा समाज-सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ तथा दूसरी ओर कांग्रेस के व्यवहार एवं कार्यनीति के प्रति जन-सामान्य की शंका अधिक पुष्ट एवं गहरी होती चली गई । उस युग की गाँधीवादी राजनैतिक विचार-धारा भी अपने मूल रूप में एक आध्यात्म भावमूलक दर्शन से अधिक कुछ न थी । समाजवादी - साम्यवादी विचारों का प्रवेश भी भारतीय समाज में होने लगा था । समाज के संवेदनशील वर्ग का इन सब दबावों से प्रभावित होना ही अत्यावश्यक था । अतः एक उभरती हुई जनवादी शक्ति को पहचानने की चेष्टा करते हुए — जिसे कालान्तर में प्रगतिशील साहित्य के नाम से जाना गया —— 'हंस' साहित्य-संसार

में उपस्थित हुआ । प्रस्तुत अध्याय में प्रगतिशील कविता के जन्म और विकास में 'हंस' पत्रिका की इसी भूमिका पर विचार किया जाएगा ।

साहित्य ,समाज एवं राजनीति में अटूट संबंध है । विशेषतः राजनैतिक गतिशीलता के युग में तो साहित्य प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूप से न केवल प्रभाव ग्रहण करता है अपितु बदले में उसे प्रभावित भी करता है । इस प्रकार वह युग-चेतना का वहन एवं नेतृत्व दोनों कार्य एक साथ करता है । 'हंस' का जन्म ही स्वाधीनता के सद्उद्देश्य से प्रेरित था । उसने प्रथम अंक में ही लिखा था—

'' 'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है...... हम भी उस नए देवता की पूजा करने के लिए, उस विजय की यादगार कायम करने के लिए,अपना मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं... ... इस संग्राम में भी एक दिन विजयी होंगे । वह दिन देर में आएगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम , बुद्धि और साहस पर मुनहसर है । हाँ यह हमारा धर्म है कि उस दिन को जल्द - से-जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें । यही 'हंस' का ध्येय होगा, और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी ।''[1] कालान्तर में 'हंस' ने अपनी इसी नीति का यथाशक्ति पालन करते हुए राजनीति, साहित्य तथा समाज पर बहुत सी उपयोगी सामग्री प्रकाशित की ।

<u>हंस एवं राजनीति :</u> - सर्वप्रथम हम पत्रिका के राजनीति - विषयक दृष्टिकोण एवं तत्संबंधी उसकी भूमिका पर विचार करेंगे । 'हंस' के अनेक निबंध — यथा— 'मेरी गिरफ्तारी' (श्रीमती शिवरानी देवी : जनवरी -फरवरी'32,पृ0 97), 'एक जेल से दूसरे जेल में' (भाई परमानंद जी : जनवरी-फरवरी'32,पृ0 17), 'मैंने भी लोकमान्य तिलक को देखा था' (श्री मनोरंजन प्रसाद : जनवरी-फरवरी,'31 पृ0 125) आदि तत्कालीन राजनैतिक जागृति, उग्र दल के प्रति जनता के रुझान,

---

1- 'हंस', प्रथमांक, मार्च सन् 1930 ई0, पृ0 63-68

भारत में नवजागृत आत्म-सम्मान (vanity) तथा नारी-जागरण आदि के स्वरों को मुखरित करते हैं । प्रारंभ के अंकों में ही राष्ट्रीय आन्दोलन की नीति, ब्रिटिश सरकार के उसके प्रति रुख, कांग्रेस की कमजोरी तथा ब्रिटिश दमन और सुधार नीति के प्रति भारतीय जनता की परिवर्तित मनोवृत्ति को ठीक - ठीक पहचानने एवं स्पष्ट स्वरों में उसको व्यक्त करने की प्रवृत्ति 'हंस' में दिखाई पड़ती है । 'दमन की सीमा' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में 'हंस' का स्वर देखिये —— ''कांग्रेस स्वराज्य मांगती है । सरकार स्वराज्य देने को तैयार है तो फिर यह दमन क्यों ? यह सत्याग्रह क्यों ? या तो कांग्रेस स्वराज्य नहीं कुछ और मांगती है, या सरकार स्वराज्य नहीं कुछ और देना चाहती है ।''[1] इसी क्रम में राष्ट्र की चर्चा करते हुए 'हंस' ने हृदय परिवर्तन की गांधीवादी नीति के प्रति स्पष्टतावादी आलोचनात्मक रवैया अपनाया —'' कांग्रेस की यह कमजोरी कहो या ताकत कि वह राजनीति की उलझनों से घबड़ाती है, वह अफसर में अफसरी का भाव नहीं, सेवा का भाव देखना चाहती है ।''[2] ब्रिटिश सरकार की कार्यनीति की सही पहचान भी इसी लेख में उभरी है — '' जब राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाएगी तो फिर नौकरशाही क्यों किसी की सुनने लगी... सरकार यह तो जानती है कि खुले हुए शब्दों में यह कहने से इस समय काम नहीं चल सकता कि हम भारत में शासन करने आए हैं और शासन करेंगे ; इसी लिए मुंह से तो वह मीठी-मीठी, राजनैतिक सत्य से भरी हुई बातें कहती है, लेकिन परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहती है कि स्वराज्य की भावना उठाने वाली कोई संस्था ही न रह जाए ।'' जनता की परिवर्तित मनोवृत्ति और उसका स्पष्ट स्वरों में उद्घोष 'हंस' की निजी विशेषता रही — '' पहले तो वह इससे (दमन से) भयभीत होता था अब भयभीत भी नहीं होता । अब तो आतंक से उसके मन में जलन होती है, अब तो उसे राजसी ठाठ-बाट, धूमधाम, चमक-दमक देख कर घृणा होती है ।''[3]

1- दमन की सीमा शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी, पृ0 69

2- वही, पृ0 69

3- दमन की सीमा : हंसवाणी, पृ0 72

'हंस' का स्वदेशांक (अक्टूबर - नवम्बर 1932) 'हंस' की राजनैतिक जागरूकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपने अनेक अंकों में राजनीति विषयक लेख, सम्पादकीय टिप्पणी तथा रचनात्मक साहित्य प्रकाशित करके 'हंस' ने तत्कालीन राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा एवं उसके दोष तथा अभावों, उसके प्रति जनता के रुख, राष्ट्र के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भूमिका तथा साहित्य एवं राजनीति के संबंध आदि पर विचार किया। डा० भगवानदास लिखित 'भारतीय राजधर्म शास्त्र' (जनवरी, 33, पृ० 2), स्वामी सत्यदेव पारिव्राजक लिखित 'राष्ट्रों का उत्थान' (दिसम्बर'32, पृ० 33) तथा(जनवरी'36, पृ०10), श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित 'भारत हितैषी अंग्रेज' (जनवरी'33, पृ० 15), श्री श्यामलाल लिखित 'भारत का भावी शासन संघ और उसका रूप' (जनवरी'33, पृ० 36), श्री श्यामलाल भैरवलाल मेढ़ कृत 'भारतीय समाज में राष्ट्र भावना' (जनवरी'33, पृ० 76), श्री मोहन सिंह सेंगर लिखित 'राष्ट्र के निर्माता'(जनवरी' 33, पृ० 49) प्रभृति निबंधों के अतिरिक्त श्री 'सुधांशु' लक्ष्मी नारायण सिंह लिखित 'राष्ट्रीय कविता' (जनवरी'33, पृ० 56) तथा इलाचंद्र जोशी लिखित 'हमारे राष्ट्र की भावी संस्कृति' (जनवरी'33, पृ० 25), श्री रायकृष्ण दास द्वारा लिखित 'भारतीय कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव' (जनवरी'33, पृ० 103), जैसे साहित्यिक निबंधों में आधुनिक राजनीति की शिक्षा, राष्ट्रों के उत्थान का कारण, जातीय आदर्श, राष्ट्र के निर्माताओं के रूप में कृषकों, मजदूरों, छात्रों, शिक्षकों तथा साहित्यकारों का हवाला तथा जातीय आदर्श के अभाव की चर्चा मिलती है। भारतवर्ष स्वतन्त्र क्यों नहीं होता, इस विषय पर 'हंस' की दो टूक राय है —''भारतवर्ष के पास उत्थान के सब साधन थे परन्तु आदर्श (जातीय) की कमी थी। अपना सारा साहित्य देख जाइये...... भारतीय राष्ट्र का आदर्श आपको कहीं नहीं मिलेगा।''[1] ''साहित्य का उत्थान अब राष्ट्र का उत्थान है'' — कहने वाले 'हंस' ने साहित्यकारों से देश के निर्माण में रचनात्मक सक्रिय योगदान देने की माँग रखी — ''साहित्य सेवियों का राष्ट्र के उत्थान में बहुत बड़ा भाग है।

1- स्वदेशांक - अक्टूबर - नवम्बर-32, पृ० 11

वे उसके निर्माता होते हैं । उनका काम रचनात्मक कार्य करना है, कल्पना शक्ति के घोड़े दौड़ाना नहीं...... केवल मानसिक विलास से... राष्ट्र का उत्थान नहीं हुआ । राष्ट्र का उत्थान तो उन कविताओं से होता है जो जनसाधारण में बल भरती हैं, उन्हें आत्म-विश्वास सिखलाती हैं, उन्हें मनुष्य बनाती हैं और उनके चरित्र को ऊँचा करती हैं... ... आज इस बात की बड़ी जरूरत है कि हम स्वाधीन भारत के आदर्श की पूर्ति के अनुकूल रचना करें । तभी हमारा उत्थान सुदृढ़ होगा ।''[1]

राजनैतिक संक्रांति के इस काल में, नवयुग के उस परिवर्तनशील युग में साम्राज्यवादी व्यवस्था के पतनशील स्वरूप की पहचान कर प्रेमचंद की प्रकारान्तर से, 'हंस' ने आशामयी उद्घोषणा की —— '' लेकिन उस तिमिराच्छन्न आकाश में अब कहीं-कहीं रजत झालर नजर आने लगी है । यह नवयुग की उषा का चिह्न है । देवगति से वर्तमान संसार संस्कृति का दिवाला निकल रहा है । साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं... ... प्रायः सभी राष्ट्रों में ऐसे विचारवान पुरुष निकल रहे हैं जिन्हें वर्तमान संस्कृति में संसार की तबाही के लक्षण दिख रहे हैं और वे एक स्वर से इसके परिष्कार की, और जरूरत पड़े तो शांतिमय क्रांति की जरूरत समझ रहे हैं और समझा रहे हैं...... जब भावना व्यापक रूप धारण करेगी तब तक उस नवयुग के आह्वान के लिये हमें अश्रान्त उद्योग करना है ।[2]'' समसामयिक राजनैतिक समस्याओं तथा गतिविधियों, यथा —'भारत आजाद कब होगा', 'भारत के देशी नरेशों का निजी व्यय', 'नए-नए सूबों की सनक' तथा उसके कुपरिणाम', 'महासमर का झूठा सपना', 'सरकारी नौकरियाँ और साम्प्रदायिकता', 'अहिंसा', 'सत्याग्रह', 'शासन सुधार के पक्ष पर देशी राज्य' आदि पर हंस ने स्वयं तो स्वतंत्र निबंधों के रूप में लेखनी चलाई ही, अपनी समकालीन अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तद्विषयक सुपाठ्य सामग्री का संकलन भी 'मुक्ता-मंजूषा' शीर्षक स्तंभ में किया । तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक परिस्थिति के आर्थिक साधनों के विषय में 'हंस' की पैनी

1- स्वदेशांक – अक्टूबर-नवम्बर– 32, पृ0 13
2- वही , पृ0 128

और साफ पढ़ देखिये —— '' जब भारत वाले इतने कष्ट में है तो बगावत क्यों नहीं कर बैठते ? इसका उत्तर यही है कि भारत दरिद्र है । जब पेट में भोजन नहीं जाता है तो विद्रोह की कौन सोचे... ... फिर समाज और बिरादरी का दबाव और रूढ़ियों का भार इतना ज्यादा है कि आदमी में कोई नई बात सोचने या करने की कोई क्षमता ही नहीं है । ऐसी सभ्यता में व्यक्तित्व का लोप हो जाता है ।''[1]

पत्रिका ने समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी अनेक स्वतंत्र निबंध एवं दूसरी समकालीन पत्र-पत्रिकाओं के उद्धरण टिप्पणी सहित प्रकाशित किए, यथा – श्री मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव लिखित 'नवीन इटली और फासिज्म' (फरवरी'33- पृ0 34), श्री हेमचंद्र जोशी लिखित 'हंगरी का राष्ट्रीय संग्राम' (जनवरी'33, पृ0 41), 'हिटलर की तानाशाही' शीर्षक 'हसवाणी' (जुलाई' 34, पृ0 64-65) आदि । देशी-विदेशी राजनैतिक व्यक्तित्वों का परिचय भी यथासम्भव 'हंस' अपने पाठकों को देता रहा है,उदाहरणार्थ 'सोवियत संसार का निर्माता लेनिन' , श्री कमेश्वर शर्मा 'कमल' : मई '33, पृ0 33), 'बिहार रत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी' (श्री रामनाथ पांडे : अप्रैल'33, पृ0 28), 'वर्तमान रूस का राष्ट्रपति स्टालिन' (श्री कमेश्वर शर्मा 'कमल' : जनवरी'34, पृ0 28) आदि प्रकाशित निबंध । संक्षेप में, राजनीति के क्षेत्र में 'हंस' ने प्रारंभ से ही अपने पाठकों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं उसकी समस्याओं से न केवल परिचित कराया अपितु उन समस्याओं के समाधान के विकल्प भी प्रस्तुत किये । इस संबंध में साम्यवादी - समाजवादी विचारधारा के प्रति पत्रिका का रुझान आरंभ से ही स्पष्ट रहा है । साहित्यकारों से इस संदर्भ में उसने मांग की कि वे राष्ट्र के उत्थान के लिए एक जातीय आदर्श की रचना करें ।''

शुद्ध राजनीति से संबंधित निबंधों के अतिरिक्त 'हंस' ने राजनीति का प्रचार करने वाले साहित्य को भी प्रकाशित किया । अप्रैल'32 के अंक में प्रकाशित श्री गोपाल सिंह नेपाली लिखित 'शादी ' शीर्षक कहानी इसका श्रेष्ठ उदाहरण हो सकती है जिसमें नायक युवक का राष्ट्र प्रेम उस सीमा तक पहुँचा हुआ

1-'हिन्दुस्तानी बगावत क्यों नहीं करते'शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी ।

है कि वह आत्मबलिदान देकर स्वतन्त्रता से अपना विवाह रचाता है । राष्ट्र के निर्माण में विभिन्न प्रान्तों की चर्चा करते हुए 'हंस' ने वर्तमान दशा में साहित्य एवं राजनीति के संबंधों का विश्लेषण करते हुए साफ-साफ देखा कि —''एक ओर साहित्यिकों का यह कर्तव्य बोध (!) और दूसरी तरफ देश की हीनता, राजनैतिक परिस्थिति । दोनों के बीच हमारा युवक समाज और उनका साहित्य । फिर उन्नति और जागृति किस तरह हो । अहिंसा के नामर्द प्रचार ने हमारे देश से शौर्य और युवकों का जोर तो उठा ही लिया है... ... अहिंसात्मक वातावरण का हमारे साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है, इसका कारण यही है कि हमारे साहित्य निर्माताओं में विचार-स्वतन्त्रता की बड़ी कमी है । वे तो बहती हुई हवा के रुख से रुख मिलाकर चलने वाले समय पर के विद्वान हैं । बस, अकर्मण्यों को एक बहाना चाहिए और वह राजनैतिक परिस्थिति ने उपस्थित कर ही दिया है । फिर हाथ-पैर हिलाने की जरूरत ही क्या ? इन परिस्थितियों के बीच हिन्दी का युवक साहित्य बुरी तरह चौपट हो गया है । ''[1] यानि 'हंस' ने केवल परिस्थितियों के यथावत् चित्रण को ही साहित्य नहीं मान लिया वरन् उससे यह आशा रखी कि वह आगे बढ़ कर संभावनाओं से भी साक्षात्कार कराये । भारतीय राजनीतिज्ञों को हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से कुछ सीखते हुए लज्जा आती है — कहने वाला 'हंस' निश्चित रूप से अपने युग की राजनीति एवं तद्विषयक साहित्यिक चेतना से आगे था जिसने विश्व-राजनीति की तुलना में भारतीय राजनैतिक प्रतिविधियों को परखा ।

हंस एवं समाज : 'हंस' ने साहित्य एवं समाज के मध्य सक्रिय संबंधों की स्थापना के साथ-साथ समाज-निर्माण में साहित्य की भूमिका एवं उस पर पड़ने वाले प्रभाव को भी स्वीकार किया । युग की ज्वलंत सामाजिक समस्याओं — यथा — नारी जाति का उत्थान, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक समस्यायें, अछूतोद्धार, प्राचीन जर्जर रूढ़ियाँ, नई शिक्षा पद्धति, कानून, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव एवं बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता की भावना के प्रसार एवं तज्जनित दुष्परिणामों के विषय में निबंधों एवं

1- सितम्बर '34, पृ० 53

कथा-साहित्य के प्रकाशन के माध्यम से 'हंस' ने तत्कालीन सामाजिक अवस्था के मूल आर्थिक कारणों पर विचार करते हुए उनके समाधान का प्रयास किया। समाज में निहित अन्तर्विरोधों की ओर जहाँ पत्रिका ने अपने पाठक समुदाय का ध्यान केन्द्रित किया[1] वहीं यूरोप के सामाजिक जीवन, संस्कृति, सभ्यता आदि पर विचार करते हुए भारतीय जीवन से उसकी तुलना भी की। नारी वर्ग की जागृति, उसका उत्थान, उसका पिछड़ा स्वरूप एवं उसके मूल आर्थिक कारणों की खोज करते हुए 'हंस' ने अपनी ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय रुचि का प्रदर्शन एवं परिष्कार किया। नारी के अन्तर्बाह्य स्वातंत्र्य की माँग 'मेरी सहयोगिनी (श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी : जनवरी-फरवरी'31, पृ0 77) में मुखरित हुई है वहीं 'मेरा एक अनुभव' (श्रीमती यशोदा देवी : जनवरी-फरवरी'31, पृ0 75) बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों तथा उसके दोषों पर प्रकाश डालता है। 'मातृजाति का गौरव' (श्री गया प्रसाद शास्त्री : अक्टूबर'35, पृ0 32) 'विवाह और समाज में स्त्रियों का स्थान' (श्री शीतल प्रसाद सक्सेना : दिसम्बर'32, पृ0 42), 'शिक्षित स्त्री समाज' (श्री प्रकाश जैतली : जनवरी'34, पृ0 13), (अप्रैल-मई'34, पृ0 23), तथा 'वर्तमान स्त्री-शिक्षा प्रणाली और सुधार'(श्री प्रकाश जैतली : सितम्बर'34,पृ0 3) आदि निबंध जहाँ नारी के उत्थान एवं उसके गौरव की माँग करते हैं वहीं 'स्वदेशोन्नति में स्त्रियों का स्थान '(श्री रामनारायण मिश्र : जनवरी'33, पृ0 4) जैसे निबंध राष्ट्र निर्माण में उनके योगदान एवं राजनैतिक क्षेत्र में उनके समानाधिकार की माँग करते हैं। 'भारत में वेश्यावृत्ति का इतिहास' (जनवरी'33, पृ0 51) शीर्षक टिप्पणी 'भारतीय समाज में नारी की हीन दशा' के आर्थिक कारणों का विश्लेषण करती है और नारी वर्ग के लिए नई शिक्षा के लाभ एवं दोषों की विवेचना के क्रम में 'हंस' ने निर्णय दिया — ''स्त्रियों का मूल्य पुरुषत्व में नहीं स्त्रीत्व में है।''[2] नारी की मुक्ति के लिए 'हंस' का बदला हुआ स्वर उस टिप्पणी से ही ज्ञात होता है जहाँ वह परकीया प्रेम की प्रतीक राधा को 'सामाजिक क्रांति की मूर्ति' कहकर उसका समर्थन करता है।

1- जनवरी-फरवरी'31, पृ0 20

2- अक्टूबर'34, पृ0 41

'हंस' के नारीविषयक दृष्टिकोण से यह बात स्पष्ट है कि पत्रिका ने प्रत्येक समस्या का सर्वांगीण विकास की दृष्टि से ही विश्लेषण करते हुए उसके सुधार के विकल्प सुझाये ।

युग की दूसरी ज्वलन्त समस्या – अछूतोद्धार-पर भी हंस ने वैज्ञानिक ढंग से विचारों का प्रतिपादन किया । 'अछूतपन मिटता जा रहा है' –सम्पादकीय टिप्पणी जहाँ इस बात की सामान्य सूचना देती है वहीं बिहार में भूकम्प के प्रलयकारी विध्वंस को अछूतों के मंदिर प्रवेश का परिणाम मानने का विरोध करते हुए इस विषय में 'हंस' की स्पष्ट वाणी सुनिए —— ''अभी उस दिन महात्मा जी ने कहा कि हमारे पापों के कारण ही यह भूकम्प हुआ है और उनकी धारणा में अछूत कहलाने वाले मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार ही महापाप है । इसी प्रकार वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ वाले महात्मा जी को कोसते और कहते हैं कि अछूतों को मंदिर में प्रवेश कराने के पाप का ही प्रत्यक्ष परिणाम यह भूकम्प है ।

क्या सचमुच परमात्मा ने बिहार में वास्तविक पापियों को ही दण्ड दिया है... और यहाँ इस देश में जो बड़े-बड़े पापाचारी और गरीबों का रक्त चूस जाने वाले, बड़ी-बड़ी तोंद वाले, बड़े-बड़े तिलकधारी ढोंगी पड़े हुए हैं, क्या परमात्मा उन्हें नहीं देख पाता ?''[1] समस्या के राजनैतिक पहलू पर विचार करते हुए उसने इस बात का विरोध किया कि अछूतोद्धार एक कोई राजनैतिक चाल है ।[2] 'हंस' ने गांधी जी की भांति मंदिर प्रवेश को अछूत समस्या के निराकरण का एक मात्र उपाय नहीं मान लिया वरन् इस संबंध में अपनी युगीन राजनैतिक चेतना से आगे जाकर निराला की भांति सवर्णों के आभिजात्य पर चोट करते हुए उन्हें अछूतों के प्रति अपने कर्तव्यों का स्मरण कराया — ''यदि अस्पृश्यता की कलंक - कालिमा सवर्ण हिन्दू अपने माथे से नहीं धो डालते तो हिन्दू समाज की रक्षा असंभव है । यह निश्चित है कि अछूतों के उत्थान के बिना देश की उन्नति होना कठिन है ।''[3] इसलिए इस समस्या का उपाय सुझाते हुए अछूतों की मनोवृत्ति और आकांक्षा का ही 'हंस' सर्वत्र समर्थन करता है –''अछूतों

1- जनवरी'34, पृ0 66
2- क्या अछूतोद्धार कोई राजनैतिक चाल है : मुक्ता मंजूषा, पृ0 49
3- अगस्त'33, पृ0 51

के लिए अलग स्कूल, अलग मंदिर, अलग कुआँ और छात्रवृत्ति आदि सब बातें पृथकता की पोषक हैं । यहाँ सार्वजनिक स्कूल , मंदिर , कुआँ आदि हैं उनमें ही अछूतों का प्रवेश क्यों नहीं कराया जाता ? जहाँ नहीं हैं वहाँ नए खोले जाएँ तो सार्वजनिक नाम से खोले जाएँ न कि अछूत या दलित आदि नामों से''[1]

एक सामाजिक समस्या के राजनैतिक पहलू पर भी 'हंस' की दृष्टि देखिए —
'' सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों की लड़ाई अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की लड़ाई से बहुत कुछ समता रखती है । शायद दोनों का फैसला एक साथ ही होगा।''[2]

निबंधों के अतिरिक्त इस समस्या पर विचार एवं उसके समाधान हेतु 'हंस' ने रचनात्मक साहित्य भी प्रकाशित किया था । उदाहरण के लिए 'दूध का दाम' (प्रेमचंद : जुलाई'34, पृ0 46) अथवा 'अछूत' (श्री छ नारायण झा : जनवरी'34, पृ0 31) जैसी कहानियाँ जो एक ओर तो उस व्यवस्था के प्रति घृणा उपजाती हैं और दूसरी ओर अछूत दलित वर्ग में नवजागृत आत्मसम्मान की भावना का प्रतिनिधित्व करती हैं । 'हंस' का निर्णय है —
''अस्पृश्यता तो मानवता के ऊपर एक प्रहार है ।''[3]

गांधीवादी राजनीति की तीसरी ज्वलंत समस्या हिन्दू - मुस्लिम एकता पर भी 'हंस' की विशाल - पैनी दृष्टि भी पड़ी । साम्प्रदायिकता की इस भावना का मूल कारण जाति-पाँति को मानते हुए एवं भारत में चलने वाले अनन्त सिविल वार – गृह-विग्रह को उसका दुष्परिणाम मानते हुए परिस्थिति की सही समझ का हवाला देते हुए 'हंस' कहता है कि मुसलमान जब तक कमज़ोर थे तब तक दबे रहे किन्तु एक बार उनमें जागृति आने पर फिर हिन्दुओं के लिए उन्हें दबाने का कोई उपाय नहीं होगा । 'हंस' की दृष्टि में एक समस्या दूसरी समस्या से जुड़ी हुई है यानि साम्प्रदायिकता की समस्या को अछूतोद्धार से जोड़कर अभिजात्य वर्ण-व्यवस्था की समाप्ति की माँग की गई है । हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल 'हंस' अलग-अलग सूबों, स्थानों के आरक्षण,अलग चुनाव क्षेत्रों को नहीं समझता । इसके विपरीत उसका मत है —''सबसे आसान

1- अगस्त'33, पृ0 52
2- वही
3- जनवरी'35,पृ0 65

राह आपस के समझौते की है ।'' निबंधों के अतिरिक्त प्रकाशित कविताओं में भी यही भाव विद्यमान है । उदाहरणतः दिसम्बर '35 के अंक में प्रकाशित 'हिन्दू - मुसलमान' शीर्षक कविता जहाँ कवि कहता है —'' एक ही बाप के दो बेटे हैं । दोनों बराबर हैं । सबका खून एक है । दोनों एक ही घर में रहते हैं । दोनों एक ही माता का दूध पीते हैं और एक ही दरिया में नहाते हैं...... फिर ये आपस में झगड़ते क्यों तबाह हो रहे हैं ।''

'हंस' ने अपने युग में ज्ञान की प्रत्येक सीमा का स्पर्श किया । कानून, नवीन-शिक्षा जैसे विषयों का विस्तृत परिचय देते हुए उसके गुण-दोषों, प्रकृति-स्वरूप की विवेचना करते हुए उनमें सुधार लाने के उपाय भी सुझाए । शिक्षा-पद्धति के विषय में प्राचीन एवं नवीन शिक्षा-पद्धति तथा पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति दोनों के विषय में विचार करते हुए भारत में सह-शिक्षा की माँग की गई किन्तु इसके दोषों को उभारते हुए 'हंस' ने नव-शिक्षित नारी-वर्ग से माँग की कि वह केवल 'परी' और 'तितली' न बन जाए वरन् अपने सहज नारीत्व-मंडित गुणों की भी रक्षा करें । साहित्य-विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में नवीन शिक्षा प्रणाली की माँग करने वाली इस पत्रिका ने हिन्दी भाषा में विज्ञान एवं वैज्ञानिक साहित्य पढ़ाने की माँग की एवं हिन्दी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करने पर सर्वत्र बल दिया ।

समाज-व्यवस्था के आर्थिक स्वरूप की पहचान भी पत्रिका ने उभारी — ''यह पराधीनता का शाप है कि हिन्दुस्तानी समाज विदेशी राज्य को हरेक बुराई का ज़िम्मेदार ठहराता है और अपने सामाजिक विधानों की बुराइयों की ओर से या तो आँखें बंद कर लेता है या उनकी और भी सराहना करता है क्योंकि कम-से-कम ये वस्तुएँ तो उनकी अपनी हैं । हम इस बात को जितना ही अनुभव करते हैं, कि जाति-पाँति , बाल-विवाह, अशिक्षा, धर्म और इसी तरह की और बातें भारत की आर्थिक दुर्दशा, आरोग्य और सामाजिक न्याय के मार्ग में जितनी रुकावटें डालती हैं, उतनी ही प्रबल इच्छा होती है, कि, भारत की

इस पराधीनता का अंत हो जाए।''[1] धर्म के नाम पर होने वाले अधर्म का विरोध, पूंजीवाद की उत्पत्ति एवं साम्राज्यवाद के सही चरित्र की पहचान, गांवों की गरीबी, हमारी खर्चीली आदतों आदि पर 'हंस' ने लेखनी चलाते हुए एक जातीय आदर्श के निर्माण की मांग साहित्यकारों से की ताकि हम अपनी सामाजिक समस्याओं से लड़ सकें। हम इन सामाजिक समस्याओं के प्रति राजनैतिक नेताओं के स्वर एवं मत की आलोचना करते हुए, उनके सिद्धान्त एवं व्यवहार में निहित अन्तराल को उजागर करते हुए 'हंस' ने व्यंग्यपूर्ण प्रहार किये + — ''ऐसे अवसर पर हम देखते हैं कि कितने ही बड़े-बड़े धर्माचार्य और सामाजिक तथा राजनीतिक नेता इन विपद-ग्रस्तों की सहायता केवल मौखिक सहानुभूति या ईश-प्रार्थना तथा यज्ञ द्वारा ही कर देना पर्याप्त समझते हैं, तो हमको बड़ा क्षोभ होता है... ... इस दल के लोग बेशर्मी के साथ यह तो बड़ी जल्दी कह देते हैं कि बिहार के भूकम्प पीड़ितों की सहायतार्थ महात्मा गांधी अछूत आन्दोलन के लिए जमा की गई रकम क्यों नहीं दे डालते परन्तु उनके दिमाग के भीतर यह बात नहीं धंसती कि यदि साल-छः महीने तक ठाकुर जी की मूर्ति को छप्पन प्रकार के व्यंजनों की बजाय दो-तीन तरह की भोजन सामग्री का ही भोग लगा दिया जायेगा तो क्या वे दुबले हो जायेंगे ?''[2]

रचनात्मक साहित्य में भी इस पुरानी पतनशील समाज-व्यवस्था की पीड़ा व्यक्त हुई है जिसको 'हंस' इन शब्दों में उल्लिखित करता है —

''जगत का दिन मेरा अवसान
संध्या हो जाती है मेरी —
हाय जगत का स्वर्ण विहान''[3]

एक समाज के निर्माण में एक व्यक्ति का योगदान भी 'हंस' स्वीकार करता है — '' मैं उसी ज्योति की एक किरण''[4]

1- भारत क्यों इतना गरीब है शीर्षक हंसवाणी, पृ0 56

2- मार्च'34, पृ0 56

3- अप्रैल'33, पृ0 37

4- अप्रैल'33, पृ0 41

पत्रिका ने अपने समाजशास्त्रीय स्थान का परिचय भी दिया । काशी नम्बर (अक्टूबर-नवम्बर '33) में भारतीय समाज के एक खंड विशेष – काशी – के स्कूल, संस्कृति, मेलों, निवासियों की विशेषताएं, विभिन्न समाजों – खत्री, गुजराती, मद्रासी, कायस्थ आदि का परिचय , समाजसुधार के प्रारंभिक प्रयत्न, व्यापार आदि पर विचार करते हुए एक समाज-विशेष-विषयक बहुमूल्य ज्ञानराशि एकत्र की गई है । काशी के साहित्यकारों की चर्चा करते हुए राष्ट्र-निर्माण में उनके योगदान का हवाला देना इस बात की सूचना देता है कि पत्रिका ने साहित्य को समाज से जोड़कर देखा और अपनी विचारशील लेखनी द्वारा साहित्य तथा समाज के मध्य सक्रिय संबंध स्थापित किए ।

'हंस' तथा जन-सामान्य : बदलते हुए मानमूल्यों के उस युग में पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता थी — किसान, मजदूर तथा जन-सामान्य की पीड़ा, आकांक्षा , सुख-दुख आदि से साहित्य को जोड़कर देखना । राष्ट्र के निर्माता मध्य-वर्ग एवं निम्न-वर्ग के प्रति पत्रिका का स्थान केवल मार्क्सवाद के प्रभाव के फलस्वरूप अथवा बौद्धिक सहानुभूति मात्र के कारण नहीं वरन् वह युगों की मार खाई पद-दलित जनता के प्रति सच्ची पक्षधरता से उद्भूत है । — '' जिससे आप इस प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाकर खाते हैं, क्या उसके उत्पन्न करने वालों को समय पर रोटी का एक टुकड़ा भी प्राप्त होता है ? जिन्होंने आपके परमार्थ के लिए पसीने की तरह अपना खून बहाया है, क्या उनके प्रति भी आपका कोई कर्तव्य है ? — यह आपने कभी सोचा है ? यदि नहीं तो आप जैसा कृतघ्न संसार में कौन होगा । यदि नमक हरामी का संसार में जीना हेय है तो निःसंदेह आप जैसे नमक हरामों को तो संसार में मुंह भी नहीं दिखाना चाहिए... ...

'' गांव में कृषकों की जो दशा है, नगरों में वही अथवा उससे भी बदतर मजदूरों की है । यह लोग प्रभावशाली पूंजीपतियों के अमानुषिक व्यवहारों अथवा अत्याचारों को सहन कर, अपने मानापमान का कोई ध्यान न दे, उनके तलवे चाटते रहते हैं । यदि ऐसा न करें तो खाएं क्या ?''

इस दशा के निवारण का उपाय सुझाते हुए पत्रिका ने लिखा —'' किसानों और मजदूरों के सुधार का एकमात्र उपाय उन्हें स्वावलम्बी बनाना है ।

जब वे स्वयं अपने पांव पर खड़ा होना सीख लेंगे, तो अवश्य ही उनमें अपनी न्यूनताओं को समझने की शक्ति आयेगी और संगठन-शक्ति का विकास होगा। उन्हें स्वावलम्बी बनाने की मुख्यतः दो स्कीमें दिखाई पड़ती हैं, वह है उनकी आर्थिक और नैतिक अवस्थाओं का सुधार''[1]। सन् '31-32 में जब कांग्रेस कह रही थी —'' कांग्रेस अब तक मजदूरों-किसानों का पक्ष लेने से कतराती थी''— उस समय 'हंस' की यह दृष्टि निश्चित रूप से अपने समय के राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों से बहुत आगे है। इसी अंक में पत्रिका 'भारतीय-श्रमिक-आंदोलन' शीर्षक निबंध में 'साम्यवाद' को श्रमजीवी आन्दोलन की एक शाखा कहकर उसका कृषक-आन्दोलन से न केवल पार्थक्य स्थापित करती है वरन् इसके स्वतंत्र इतिहास एवं सरकार के प्रति उसके विरोधी रुख को भी ठीक-ठीक पहचानती है। सामान्य-जन की यह दशा, उसके प्रति सहानुभूति, उनकी समस्याओं के निदान (कभी-कभी आदर्शवाद का पुट लिये हुए भी) की चेष्टा रचनात्मक साहित्य के माध्यम से भी सर्वत्र हुई है यथा 'दुर्भिक्ष' (श्री ललित किशोर सिंह : अक्टूबर-नवम्बर '32, पृ0 19) तथा 'लकड़हारा' (श्री रतनचंद जैन : जनवरी '33, पृ0 61) शीर्षक कहानियाँ तथा 'कुदाली वालो' शीर्षक गुजराती से अनूदित कविता जहाँ कुदाली वाले की दीन दशा का वर्णन करते हुए कवि और प्रकारान्तर से पत्रिका कहती है —

''इसके हृदय में रहने वाले हास्य और अश्रुओं को किसने कुचल दिया है ? इसको जड़ कृषक का मूर्ख बंधु किसने बना दिया है ?... हाय ! इसकी बुद्धि का विमल दीपक किसने बुझा दिया है ?''

''सात समुद्रों के पार साम्राज्यों की दीवारें चुनने वालों हे महानुभावो, क्या इन सब मानव प्रस्तरों को प्रभु ने घड़ा है ?''

''यह तो कोई बांकी छटा नहीं है, यह तो टूटी हुई कमर है। यह तो सदियों के जुल्म के पीभार के कारण झुका हुआ हाड़-पुंज है... ... यह कुरूप आकृति अपनी परछाईं में चित्र अंकित कर रही है और हू-हू करती हुई

1- अक्टूबर - नवम्बर '32, पृ0 49-50

हीन जाति जागती हुई शब्द कर रही है ।''[1]

सारतः पत्रिका का स्थान काव्यगत आभिजात्य परक मूल्यों से हटकर दीन-हीन सामान्य जनता के प्रति है जहाँ वह वर्तमान अवस्था के सही कारणों की पहचान एवं उसके सुधार के उपायों की परख रखती है ।

'हंस' एवं अन्तर्राष्ट्रीयता : इसी सामान्य मानववादी स्वर के परिणामस्वरूप पत्रिका ने राष्ट्रीयता के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीयता को भी महत्व प्रदान किया तथा राष्ट्रीयता की भावना के उदय एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के संकुचन का कारण आर्थिक संघर्षों को मानते हुए इन दोनों में अभेद संबंध स्थापित किया ।[2] 'हंगरी का राष्ट्रीय संग्राम' (हेमचंद्र जोशी : जनवरी'33,पृ041) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के विषय पर लेखनी चलाकर पत्रिका ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा दी । केवल राजनीति ही नहीं, धर्म, समाज, शिक्षा एवं साहित्य -- सभी क्षेत्रों में पत्रिका ने अपने पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज की नवीनतम उपलब्धियों से सूचित कराया । विदेशी साहित्य से भारतीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, विदेशी साहित्य का परिचय तथा अनुवाद कार्य को पत्रिका ने उचित पुष्ट आधार प्रदान किया । उदाहरणार्थ 'मोलियर का नट जीवन' (हंस कुमार तिवारी : अप्रैल-मई'34, पृ0 56), 'भारत में यूरोपीय साहित्य', ' आर्य तथा अंग्रेजी साहित्य' आदि । यूरोप के सामाजिक जीवन का परिचय कराते हुए 'हंस' ने भारतीय सामाजिक जीवन से उसकी तुलना भी सर्वत्र प्रस्तुत की ।

'हंस', इतिहास एवं परम्परा : अन्तर्राष्ट्रीयता पर बल देने का यह आशय लेना सर्वथा भ्रामक होगा कि अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करने वाली पत्रिका 'हंस' भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा परम्परा संबंधी मूल्यों को नकारती थी । 'राष्ट्र की भावी संस्कृति' (इलाचंद्र जोशी : जनवरी'33,पृ0 25), 'भारतीय संस्कृति की एकता' शीर्षक निबंधों में प्राचीन संस्कृति पर दृष्टिपात के साथ ही भावी संस्कृति के विकास एवं उसकी दिशा पर भी 'हंस' ने विचार किया । उसके

1- दिसम्बर'35,पृ080

2-

विवेचनानुसार भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का विकास धर्म के कारण अवरुद्ध हो गया और अब उसके स्वाभाविक विकास के लिए हमें छायावादी मूल्यों से परे जाकर जीवन के सुन्दर-असुन्दर दोनों पक्षों की ओर दृष्टि समानरूप से डालनी होगी —— ''राष्ट्र के प्राण में यदि हम उन्नततम संस्कृति का बीज बोना चाहें तो हमें पाप-पुण्य , अन्धकार, आलोक सभी भावों को अपनाना होगा । सब प्रकार के तत्वों को ग्रहण करके उनमें से ज्ञान, प्राण और शक्ति की योजना होगा ।''[1]
लगभग यही स्वर 'जीवन में घृणा का स्थान' (दिसम्बर '32, पृ0 73-74) शीर्षक टिप्पणी में भी प्रेमचंद ने मुखर किया है । आर्य संस्कृति को संस्कृतियों की मातामही कहते हुए काशी को हिन्दू संस्कृति का केन्द्र इस पत्र ने उद्घोषित करके एक स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया ।' आर्य संस्कृति के शिखर ' तथा 'आर्यत्व की पैतृक सम्पत्ति' शीर्षक टिप्पणियों का प्रकाशन भी भारतीय संस्कृति के प्रति पत्रिका के स्वस्थ दृष्टिकोण का सूचक है जो पुरातन आर्य-संस्कृति की महिमा का गान करता है । 'अशोक की नीति और कृति पर एक आलोचनात्मक दृष्टि ' (श्री वासुदेव शरण अग्रवाल : फरवरी '33, पृ0 57) शीर्षक टिप्पणी इतिहास के प्रति पत्रिका के तुलनात्मक दृष्टिकोण की परिचायक है जिसमें अशोक के साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से तुलना की गई है । इतिहास लेखन के प्रति भी पत्रिका का ध्यान देखिए ——

''यदि राष्ट्र के गत इतिहास की शिक्षा देने का एक प्रमुख मैं ध्येय युवकों के हृदय में राष्ट्राभिमान का बीजारोपण करना हो तो उस ध्येय-सिद्धि के लिए भारत का गत इतिहास लिखते समय सत्य कथन तो आवश्यक ही है ; किन्तु लेखक का दृष्टिकोण भी इतिहास लेखन की एक महत्त्व की वस्तु है... इतिहास केवल भूतकाल की घटनाओं की सूची नहीं है... ... अतः भारत का इतिहास लिखने वाले लेखकों से हमारी नम्र प्रार्थना है कि,उन्हें अपने सम्मुख ऐसा ध्येय रखना चाहिए, जिससे भारत के युवकों को इतिहास के अध्ययन द्वारा राष्ट्राभिमान की शिक्षा मिल सके, भारत के ~~युवकों को इतिहास के अध्ययन~~ भिन्न-धर्मी

1- अक्टूबर-नवम्बर '32, पृ0 29

निवासी दूसरों के विषय में द्वेष के भाव न रखने पाएँ ; बल्कि उनके हृदय में आदर के भाव ही जागृत हो सकें ।''[1]

इतिहास के प्रति 'हंस' का यह दृष्टिकोण निश्चय ही अपने युग के उस इतिहास संबंधी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत है जहाँ इतिहास को प्रायः विकृत यूरोपियन दृष्टि से देखा जाता था । इतिहास, संस्कृति और परंपरा विषयक दृष्टिकोण में पत्रिका का स्वर उनके उचित मूल्यांकन एवं संरक्षण का ही रहा । इस हेतु पत्रिका ने न केवल देशी-विदेशी भाषाओं के अनुवाद कार्य को महत्त्व दिया अपितु जातीय साहित्य की भी माँग रखी । — ''जाति वह है जिसकी संस्कृति इतिहास-परंपरा से एक हो, जिसकी विचारधारा एक समय एक ही ओर बहती हो, और जो साहित्य इस संस्कृति और इस विचार को व्यक्त करता है, वह जातीय साहित्य है । इस साहित्य में चाहे वह देश के किसी कोने में देखिए , एक ही प्रवाह है, एक ही स्पन्दन है ।''[2] वर्तमान युग में जातीय साहित्य के अभाव के कारणों का समुचित विश्लेषण करते हुए पत्रिका ने प्रस्थापना की कि आधुनिक शिक्षा-सम्पन्न कुछ चुने हुए शहराती लोगों की नई और मूलतः अनुवाद की भाषा में जातीय साहित्य का निर्माण सर्वथा असंभव था । साथ ही उसने संस्कृत साहित्य के समानान्तर हिन्दी भाषा में जातीय साहित्य के निर्माण का सुझाव रखा ताकि देश में एक जातीय आदर्श की स्थापना हो सके ।

हंस' एवं साहित्य की परिवर्तित मनोवृत्ति : यह विश्लेषण पत्रिका के साहित्यिक विश्लेषण की ओर प्रवृत्त करता है जिसमें आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का संघर्ष निहित है । 'हंस' ने समसामयिक अन्य पत्र-पत्रिकाओं की विभिन्न विषयों पर जो टिप्पणी सहित सुपाठ्य सामग्री उद्धृत की है, उनसे पत्रिका के यथार्थपरक रुझान का पता चलता है । काव्य के परंपरागत आभिजात्य मूल्यों से मुक्ति का प्रयास तो पत्रिका के प्रथमांक से ही दृष्टिगत होता है । 'जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भावभूमि है'— साहित्य की इस भाववादी व्याख्या के विपरीत प्रेमचंद तथा 'हंस' का स्पष्ट उपयोगितावादी स्वर सुनिये -- ''जहाँ वाणी मौन रहती है, वह साहित्य है ?

1- जुलाई'33, पृ0 58
2- अक्टूबर-नवम्बर'32,पृ054

वह साहित्य नहीं गूंगापन है । साहित्य का काम भावों का अन्तःकरण में अनुभव करना ही नहीं, उनको व्यक्त करना है । वह मनोभाव तभी साहित्य कहलाते हैं, जब वह व्यक्त हो जाते हैं, वाणी में प्रगट होते हैं... ... अगर वाणी मौन रहने में ही सुख मानती तो आज संसार में साहित्य शब्द का अस्तित्व भी न होता ।''[1] साहित्य के उपयोगितावाद के विषय में कुछ और स्पष्ट कथन देखिए— ''अब रही साहित्य की उपयोगिता की बात । साहित्य का मूलाधार सत्य सुन्दर और शिव है । साहित्य की सामग्री मनुष्य का जीवन है... ... साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का रूपी है । जो चतुर कलाकार है वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हंसी उड़वाता है... जिस वाणी, पुस्तक या लेख में उपयोगिता का तत्व नहीं है, वह साहित्य नहीं, कुछ भी नहीं ।''[2] इसी क्रम में 'हंस' एक बहुत महत्वपूर्ण बात कह गया है — विचारों के प्रच्छन्न प्रचार की बात जो प्रायः उस युग के उत्तर-छायावादी या आदर्शवादी प्रचारात्मक साहित्य के विरोध में जा पड़ती है । सोद्देश्य लेखन – प्रोपेगंडा को 'हंस' एक आवश्यक प्रवृत्ति मानता है – '' सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगंडा करते हैं — सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक । अगर प्रोपेगंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे । जो प्रोपेगंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं । मैं उस प्रोपेगंडा को गर्व से स्वीकार करता हूं । मेरा विरोध, तो उस प्रोपेगंडा के आक्षेप से है जो मान और यश और कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है ।''[3]

साहित्य में शुद्धतावादी प्रवृत्ति की मांग करने वाले साहित्यिकों को, जो कहते हैं कि — '' साहित्य में हम शुद्ध संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं । चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा संस्था हो । हम उसकी परख इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं '' — 'हंस' की

1- परितोष (हंसवाणी) मार्च '32, पृ060
2- वही, पृ061
3- वही, पृ058

फटकार सुनिए — '' कितनी शुद्ध साहित्य-सुधा वृष्टि है । अहंकार का एक महान कुटिल रूप है... ... सभी बड़े-बड़े विचार प्रवर्तकों ने अपनी अकेली आवाज से संसार पर विजय पाई है... आप इससे भी उई बड़ी अनोखी, नई अभूतपूर्व बात कहिये, मैं ज़रा भी न चौकूंगा, भिनकूंगा ही नहीं । ''[1] आत्मकथा को साहित्यकारों के 'आत्मप्रकटन का एक ज़रिया' कह कर एक मामूली मजदूर के जीवन में भी अमर साहित्य का विषय खोजने वाले 'हंस' का अपने विरोधियों के लिए बेलाग उत्तर है —— ''साहित्य के इस कूड़ा-करकट से ही अमर साहित्य की सृष्टि होती है । कोई अमर साहित्य लिखने का इरादा करके अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता" क्योंकि '' जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है ।सुई की जगह तलवार काम नहीं दे सकती । ''[2] धन-लोलुप साहित्यकारों एवं पत्र सम्पादकों को 'हंस' व्यंग्य से फटकारते हुए अपनी निर्लोभ नीति का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख करता है — ''हम श्रीयुत नंददुलारे वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते हैं, कि मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गई, धन तो हाथ न लगा, हालांकि कोशिश तो बहुत की, और अब इस फिक्र में हूं कि कोई गांव का पूरा रईस फंस जाए, तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूं । लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत सीखना है... ... ''[3]

पत्रिका ने जहाँ एक ओर साहित्य के सोद्देश्य लेखन की माँग की वहीं दूसरी ओर साहित्यिकता को भी उसकी अनिवार्य शर्त माना । ''क्योंकि साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं हृदय की वस्तु है'' — कहते हुए उसने कल्पना, सत्य, भावों की व्यापकता एवं आत्मा से सामञ्जस्य (harmony.) की माँग साहित्य में की । इस प्रकार उसने साहित्य के मूल्यपरक पक्ष को स्वीकार करते हुए साहित्य को साहित्य के रूप में ही देखा । साहित्य में यथार्थपरक दृष्टि की माँग 'हंस' का मूल स्वर है — ''साहित्य का आधार जीवन है । इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते

1- मार्च '32, पृ०58
2- वही, पृ०61
3- वही, पृ०62

है ; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है । उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा ।''[1] इसी यथार्थवादी दृष्टि के आधार पर संवेदनशील साहित्यकार बहुधा अपने देश में उठने वाली लहर से प्रभावित होता है और अपनी कृतियों में उसे प्रतिबिम्बित करता है । साहित्य को सामाजिक आदर्शों का सृष्टा मानने वाले 'हंस' का मत है —— '' जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते '' —— क्या यह उक्ति इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि 'हंस' साहित्य को अपने युग का मशअलबरदार हरावल दस्ता मानता है ? और क्या इसी भूमिका के समुचित निर्वाह के कारण 'हंस' स्वयं समाज निर्माण में एक प्रगतिशील भूमिका अदा नहीं करता है ? केवल विध्वंस लाने वाले 'तुदाई फैजदार' साहित्य की 'हंस' ने भर्त्सना की —— '' साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म , नीति, बल, वैभव आदि सभी उपकरणों की तुष्टि के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता, अतएव इस महान कार्य के लिए किसी आन्दोलन विशेष की आंधी ही सब कुछ नहीं है और न उसमें उड़ने वाले थोड़े से लोग ही उसके सर्वस्व हैं । समाज के प्रत्येक व्यापक क्षेत्र से प्रतिनिधि के रूप में हमें कुछ न कुछ ग्रहण करना ही पड़ेगा, नहीं तो काम पूरा नहीं हो सकता''[2] 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक टिप्पणी साहित्य की केवल आलोचना करने वाले उन व्यक्तियों, पत्रों और संस्थाओं से उदारता का टीका लेने का प्रस्ताव करती है जो केवल छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति रखते हैं ।

इसी क्रम में पत्रिका ने भाषा-संबंधी दृष्टिकोण पर भी विचार करते हुए उसके समाधान का प्रयास किया । जब हिन्दी - उर्दू और हिन्दुस्तानी का विवाद बड़ी तीव्रता से चल रहा था तब भाषा-संबंधी अनेक निबंधों के प्रकाशन से पत्रिका ने उस विवाद को एक निश्चित दिशा में अग्रसर किया । चूंकि बिना एकता के भाषा और जाति का कल्याण नहीं, फलतः एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पर बल देते हुए 'हंस' ने लिखा —— '' राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा चाहे सबसे महत्वपूर्ण अंग न हो पर महत्वपूर्ण अवश्य है और यह भी निश्चित है कि हिन्दी के सिवा कोई प्रान्तीय भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बनने का दावा नहीं कर सकती ।'' जब हिन्दू और मुस्लिम सूबों को लेकर चुनाव लड़े जा रहे

1- अप्रैल'32,पृ038
2-अक्टूबर-नवम्बर'32,पृ044

थे, उस युग में साम्प्रदायिकता से दूर 'हंस' सामाजिक एवं राष्ट्रीय गठन के उपाय सुझा रहा था। यद्यपि तद्विषयक न्यूनताओं को भी वह बखूबी पहचान रहा था — "वर्तमान हिन्दी भाषा समुन्नत भाषा नहीं है जिसका प्राचीन साहित्य तो किसी भी प्राचीन साहित्य से बराबरी कर सकता है किन्तु नवीन साहित्य में हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओं से पीछे है।"[1] समकालीन पत्र-सम्पादकों की ओछी मनोवृत्ति, दूसरों के प्रति घृणा फैलाने वाली [illegible] के लिए अपने युग की प्रगतिशील पत्रिका 'हंस' कहती है — "जब सरस्वती जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका का सम्पादक ऐसा लांछन कर सकता है, तो फिर शायद यह आवाँ ही बिगड़ा हुआ है।"[2] लेकिन साथ ही प्रेमचंद यह भी उद्घोषित कर देते हैं — "हिन्दी के सम्पादक इतनी आसानी से चकमे में आने वाले नहीं हैं"[3] निश्चित रूप से यह कथन पत्रिका की नीति पर सर्वत्र लागू होता है — प्रेमचंद कहीं भी आसानी से चकमे में नहीं आए हैं।

प्रेमचंद ने युग-निर्माण में साहित्यकारों से कुछ ठोस कार्य करने की माँग की। जब विचार और व्यवहार के अन्तर के युग में निराला —'बहुत पढ़ा है, बहुत करना है, बहुत पीछे हैं'— कह रहे थे तो प्रेमचंद तुलसी-पुण्य-तिथि के संदर्भ में लिख रहे थे — "हर साल लोग जगह-जगह तुलसी जयंती-के नाम से तुलसी - तिथि मनाते हैं। करते क्या हैं ? गाँव वाले दो-चार सेर घी आग में झोंक देते हैं। हवन के साथ-साथ ब्राह्मण भोजन तो चाहिए ही ? वह भी थोड़ा - बहुत हो ही जाता है। इसके बाद ढोलक झाल लेकर लोग तुलसी-कृत रामायण गाने लगते हैं। चार-छः पढ़े लोग गला फाड़ कर चिल्लाते हैं। बस, हो गए तुलसीदास से उऋण। शहर वाले एक नोटिस छपवाकर बँटवा देते हैं। लोग निश्चित स्थान पर जुटते हैं। भाषण होते हैं, लेख पढ़े जाते हैं, कविताएँ सुनाई जाती हैं, सब में यही कहा जाता है कि गोस्वामी जी की कविता ऐसी है, वैसी है उनके उपकारों का हम बदला नहीं दे सकते — इत्यादि। बस एक ही तरह की बातें हर साल। नया कोई कहेगा कहाँ से ? कोई रिसर्च तो करता नहीं... यह तो एक तरह से बला टालना है, इससे कुछ ठोस काम नहीं हो सकता"[4] लगभग यही स्वर 'अभिनंदन ग्रंथ और साधारण जनता' शीर्षक

1- जनवरी'33, पृ06।
2- अगस्त'33, पृ064 3- वही 4-जुलाई'33, पृ063

टिप्पणी में भी है ;[1] जहाँ वह इसे साहित्योत्कर्ष का शुभ लक्षण मानने के साथ ही सवाल उठाते हैं कि — उन मूल्यवान अभिनंदन ग्रंथों से साधारण जनता को क्या लाभ है? इस दिशा में स्वयं 'हंस' ने रचनात्मक कार्य किया — अर्थात् 'द्विवेदी अभिनंदनांक' तथा 'भारतेन्दु अंक' का प्रकाशन — जिसका मूलस्वर रहा उनके व्यक्तित्व - कृतित्व का मूल्यांकन, हिन्दी साहित्य पर उनका प्रभाव एवं युग निर्माण में उनके योगदान की चर्चा । उदाहरणतः 'लेखक निर्माता की एक भेंट' (श्री धर्मवीर : अप्रैल, 33, पृ0 11), 'संस्मरण नहीं श्रद्धापत्र' (श्री देवीदत्त शुक्ल : अप्रैल'33, पृ02) तथा 'राष्ट्र के निर्माण में भारतेन्दु का स्थान' (श्री रामनारायण मिश्र : जनवरी'35, पृ03) आदि निबंध ।

'हंस' ने अपने युग की छायावादी प्रवृत्तियों का अतिक्रमण भी किया । कल्पना, भावुकता और सौंदर्य से ओतप्रोत काव्य-रचना के उस युग में 'हंस' ने कोमलता के साथ-साथ परुषता पर भी बल दिया । उदाहरणतः 'जीवन में घृणा का स्थान,' साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी [2] में तत्कालीन प्रचलित रहस्यवादी प्रवृत्ति और तज्जनित अकर्मण्यता के प्रति विरोध का प्रगतिशील स्वर भी सुनिये — ''हम व्रत रखते हैं तो इससे हमारी पाचन शक्ति ठीक हो सकती है, और हम समाज के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकते हैं, इस अर्थ में तो जरूर व्रत पुण्य है ; लेकिन भगवान जी उससे प्रसन्न होकर, या लाख बार राम-राम की रट लगाने से हमारा संकट हर लेंगे, यह बिल्कुल गलत बात है । हम संसार की प्रधान (mystic) जाति हैं, लेकिन अकर्मण्य और इसीलिए पराधीन ।''[3] अपने युग की चेतना का पथ-प्रदर्शन करने वाले प्रेमचंद और 'हंस' हिन्दी साहित्य की पिछड़ी हुई गति का यह कारण मानते हैं कि या तो स्वतन्त्र - विचार वाले लेखक हैं ही नहीं या हैं तो परिस्थिति के दबाववश चुप हैं ; इसीलिए हमारी कृति में पुरानी तर्कहीन परतन्त्रता की भरमार रहती है क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि विचार-स्वातंत्र्य एवं उसके प्रगटीकरण में 'हंस' अपनी युगीन चेतना से आगे था ?

1- जुलाई'33, पृ063, 64, 65
2- सितम्बर'33, पृ073-74
3- अक्टूबर'34, पृ084

'हंस' एवं भारतीय साहित्य की परिकल्पना : इसके अतिरिक्त 'हंस' ने हिन्दी-भाषा के प्रचार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । विभिन्न भारतीय भाषाओं की प्रगतिशील शक्तियों को एकत्र करते हुए उसने भारतीय साहित्य की परिकल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया । दिसम्बर '35 अंक में प्रथम बार बंगला, मराठी, तमिल, तेलगु, गुजराती, कन्नड़, सिंधी तथा पंजाबी भाषाओं के प्रतिनिधि कवियों की छायावादी, रहस्यवादी तथा प्रगतिशील रचनाएं, निबंध, कहानी, कविता और धारावाहिक उपन्यास के अनुवाद रूप में प्रकाशित करते हुए विभिन्न भारतीय भाषाओं की प्रगतिशील शक्तियों को एक साहित्यिक मंच प्रदान किया । उदाहरणार्थ इसी अंक में छपी तेलगु की श्री के० अन्नमाराजु शर्मा विरचित 'कवि समाधि' तथा देवुलपल्लि विश्वेश्वर राव विरचित 'कवीन्द्र' शीर्ष कविता[1] अथवा श्री पागल कन्हाई लिखित 'हिन्दू-मुसलमान' कविता[2] । अपने इसी अंक के मुक्ता-मंजूषा स्तंभ में 'भारत की सच्ची संस्कृति' शीर्षक टिप्पणी (पृ०99) प्रकाशित करके 'हंस' अपने उद्देश्यों पर प्रकाश डालता है — '' भारत के साहित्यिक भविष्य के लिए मेरा यह अनुमान है कि अंग्रेजी भाषा, जो भारत के ग्रामीण जन-साधारण के लिए सदा ही एक विदेशी भाषा रहेगी, भले ही व्यापार और विदेशी लिखा-पढ़ी के माध्यम के रूप में अपना स्थान बनाए रखे; पर वह कभी आधुनिक भारत के साहित्य की भाषा नहीं बन सकती... ... भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाएं भविष्य में एक दूसरे के साथ अधिक फलदायक एकता स्थापित करेंगी... ... हिन्दी अभी ही कर रही है... ... विभिन्न भाषाओं के होते हुए भी उच्च कोटि के विचारों का यह विनिमय एक मूल्यवान निधि है, इससे भारत की एकता को भी बड़ी सहायता पहुंचेगी । विनिमय की इस प्रक्रिया में हिन्दी भाषा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है''[3] । अक्टूबर '35 के अंक

1- दिसम्बर '35, पृ०74-75

2- दिसम्बर '35, पृ० 40

3- दिसम्बर '35, पृ०97

में ही प्रान्तीय साहित्य की एकता पर बल देते हुए 'हंस' ने लिखा था ––''हंस' भारत के समस्त साहित्यों का मुख पत्र बनने की इच्छा से एक नई विशाल भावना को लेकर अवतरित हो रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की साहित्य समृद्धि को राष्ट्रवाणी हिन्दी के द्वारा सारे भारत के आगे उपस्थित करना... ... ... देश के सभी प्रान्तों के साहित्य में आन्तरिक एकता भरी हुई है। साहित्य रचनाएं चाहे जिस भाषा में लिखी गई हों वे एक सूत्र में पिरोयी हुई हैं''[1] इसी क्रम में विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का जीवन-परिचय, उनके साहित्य की समीक्षाएं, रचनाएं आदि का प्रकाशन करके प्रगतिशील आन्दोलन की भूमिका प्रशस्त की।[2]

'हंस' एवं हिन्दी लेखक संघ का निर्माण : संगठन के इस युग में पत्रिका ने साहित्यकारों के एक संगठन के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सन् '34 में ही 'हंस' ने साहित्यकारों की एक सार्वदेशिक-संस्था की स्थापना पर हंसवाणी में बल दिया –– '' भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की; बीसों बढ़िया संस्थाएं तो हैं; लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नहीं होती और न साहित्य सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है... '' '' हरेक प्रान्त में लोकल कौंसिलें हैं, पर प्रान्तीय साहित्यों की केन्द्रीय संस्था कहाँ है? हमारे ख्याल में एक ऐसी संस्था की जरूरत है... ... ... ''[3] उसकी आवश्यकता पर बल देते हुए 'हंस' आगे लिखता है –– '' यदि साहित्य प्रान्तीय है तो उसके पढ़ने वालों में भी प्रान्तीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य-सेवियों का वार्षिक अधिवेशन होने लगे तो... निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यों के सन्निकट हो जाने से प्रान्तों में भी सामीप्य हो जायेगा ;... और वह महान शक्ति प्रान्तीय सीमाओं के अन्दर जकड़ी पड़ी हुई है,... ... इन धाराओं को समन्वित करके हम उनमें प्रवाह और प्रगति उत्पन्न कर सकते हैं। और यह हिन्दी-साहित्य

1- अक्टूबर '35, हंसवाणी
2- यथा वल्लतोल, वीरेशलिंगम आदि का परिचय, दिसम्बर '35, के अंक में दिया गया है।
3- फरवरी '34, पृ064

सम्मेलन का नैसर्गिक कर्तव्य है। ''[1] इस संगठन के निर्माण हेतु 'हंस' ने श्री सत्य जीवन वर्मा की 'हिन्दी-लेखक-संघ' के निर्माण हेतु लेखक समुदाय से की गई अपील [2] एवं ~~अखिल~~ भारतीय-साहित्य-परिषद् के सम्मेलन की सूचना तथा लन्दन से भेजा हुआ मेनीफिस्टो भी प्रकाशित किया। इस संदर्भ में एक साहित्यिक संस्था के रूप में पी0ई0एन0 का परिचय एवं उसके उद्देश्यों का हवाला देते हुए 'हंस' ने भारतीय केन्द्र के संचालकों की इस अभिलाषा को व्यक्त किया कि ''भारत के भिन्न प्रान्तों के साहित्य-सृजन को, उसके वास्तविक रूप और मूल्य में, विश्व-साहित्य में रखकर फैले हुए भ्रमों और मनोविदनाओं को दूर करें। इससे हमारे देश में भी जो कुछ ऐसी बुराई होगी, वह भी अपने आप धुल जायेगी।''[3]

<u>'हंस' एवं विविध विधा :</u> पत्रिका ने अपने जीवन-काल में अनेक विशेषांक निकालकर एक-एक क्षेत्र में ज्ञान की सम्पूर्णता प्रदान की, यथा आत्मकथांक, स्वदेशांक, काशी नम्बर, द्विवेदी - अभिनंदनांक, तथा भारतेन्दु अंक। इस प्रकार पत्रिका ने प्रत्येक क्षेत्र के बहुआयामी स्वरूप, उसकी उपादेयता, उसके अन्य पत्रिकाओं के संदर्भ में मूल्यांकन को उजागर करने की चेष्टा की। विज्ञान, मनोविज्ञान, उद्योग तथा व्यापार आदि सामान्य-विषयों से संबंधित निबंध प्रकाशित करके अपने पाठकों की चेतना और सामान्य ज्ञान का विविध दिशाओं में पत्रिका ने विकास किया यथा ——'भोजन की आवश्यकता'(श्री र0ज0त0 : अक्टूबर'35,पृ021) तथा 'टेलिग्राफ की कथा' (श्री श्यामनारायण कपूर : सितम्बर'34,पृ047), 'आत्मग्लानि का व्यावहारिक निरूपण' (श्री राजाराम शास्त्री : अगस्त'33,पृ043), 'स्वप्न' 'शिक्षा मनोविज्ञान का विकास' (श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल : सितम्बर'34,पृ03), 'काशी के बनारसी वस्त्रों का उद्योग'(श्री मंगलाप्रसाद अवस्थी : अक्टूबर-नवम्बर'33,पृ0181) शीर्षक निबंध प्रकाशित किये। इसके अतिरिक्त साहित्य-सृजना के क्षेत्र में भी 'हंस' ने नवीन प्रतिमान स्थापित किए। मुख्यतः साहित्यिक पत्रिका होने के कारण 'हंस' ने कहानी-कला के विकास में विशेष रूप से सहायता दी।

1- फरवरी'34,पृ064-65

2- सितम्बर'34,पृ062

3- फरवरी'34,पृ066

अपने विभिन्न अंकों में उसने विविध विषयों से संबंधित अनेक मौलिक और देशी-विदेशी दोनों प्रकार के साहित्य से अनूदित कहानियों का प्रकाशन किया क्योंकि उसके मतानुसार — ''जब हम मिथ्या विचारों और भावनाओं में पड़कर असलियत से दूर जा पड़ते हैं तो साहित्य हमें उस सोते तक पहुँचाता है जहाँ रियलिटी अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रही है और यह काम अब गल्प के सिर आ पड़ा है। कवि का रहस्यमय संदेश समझने के लिए अवकाश और शांति चाहिए। निबंधों के गूढ़ तत्व तक पहुँचने के लिए मनोयोग चाहिए, उपन्यास का आकार ही हमें भयभीत कर देता है, और ड्रामे तो पढ़ने की नहीं बल्कि देखने की वस्तु हैं। इसलिए गल्प ही आज साहित्य की प्रतिनिधि है और कला उसे सजाने और सेवा करने के और अपनी इस भारी जिम्मेदारी को पूरा करने के योग्य बनाने में लगी हुई है... हमें हर्ष है कि हिन्दी कहानी ने भी इस विकास में अपनी मर्यादा की रक्षा की है और आज हिन्दी में ऐसे गल्पकार आ गए हैं जो किसी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हैं।''[1]

कहानियों में भी विभिन्न स्वरों वाली कहानियों का 'हंस' ने सम्पादन किया। यथा – अपूर्ण आत्मा' शीर्षक कहानी नारी मुक्ति की आकांक्षा को व्यक्त करती है तो श्रीमती शिवरानी देवी लिखित 'वधू-परीक्षा '(अप्रैल'32, पृ045) नारी जागृति एवं उसमें आत्मसम्मान की भावना के उदय से संबंधित है; 'अछूत' (श्री चन्द्र नारायण झा : जनवरी'34, पृ031) शीर्षक कहानी दलित वर्ग में नवजागृत आत्मसम्मान के भाव से संबंधित है तो श्री गोपाल सिंह नेपाली की 'शादी' (अप्रैल'32, पृ07) कहानी राजनैतिक चेतना और उत्साह से संबंध रखती है। 'हंस' ने बहुत से नये कहानीकारों को उभारा जिनमें जैनेन्द्र का विकास तो विशेष रूप से 'हंस' से जुड़ा हुआ है। प्रेमचंद , शिवरानी देवी, अज्ञेय, गोपाल सिंह नेपाली, भुवनेश्वर प्रसाद भुवन, जनार्दन राय नागर, तथा श्री राधा कृष्ण प्रभृति हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त अहिंदी भाषी लेखकों – यथा श्रीमती शान्ता देवी (मद्रास) तथा काका कलेलकर (मराठी) – की रचनाओं का भी 'हंस' ने विधिवत प्रकाशन करते हुए हिन्दी कथा-साहित्य को विभिन्न भारतीय भाषाओं के कथा-साहित्य से समृद्ध किया।

1- नवम्बर'34, पृ07।

साहित्य की अन्य-विधाओं — संस्मरण, गीतिकाव्य, गद्य-गीत, नाटक तथा परवर्ती अंकों में उपन्यास, समीक्षा, संगीत और चित्रकला से संबंधित उपयोगी सामग्री का भी प्रकाशन किया गया, साथ ही उनकी सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ पर भी विचार किया गया यथा -- संगीत का चिकित्सात्मक महत्व' (श्री गोविंद मोहन मिश्र : अप्रैल-मई'34,पृ014), 'भारतीय पर राष्ट्रीयता का प्रभाव'(श्री रायकृष्ण दास : जनवरी'33,पृ0103) , 'उदयशंकर और आध्यात्मिक मूल्य' , 'प्रसाधिका की प्राप्ति' (श्री रायकृष्ण दास : जनवरी-फरवरी'31) प्रभृति निबंध । पत्रिका में प्रकाशित कविताओं का स्वर अधिकतर छायावादी और कभी-कभी उत्तरछायावादी प्रवृत्ति का ही पोषक रहा जिसमें नवनिर्माण की आकांक्षा की अभिव्यक्ति और माँग के बावजूद मार्ग, ध्येय, लक्ष्य की अस्पष्टता है । 'हंस' ने कुछ रंगीन चित्र भी छापे जिनमें छायावादी एवं यथार्थवादी प्रवृत्ति दोनों ही मुखरित हुई हैं, यथा 'अतीत की कल्पना' (श्री सोमलाल शाह कृत) एक यथार्थ-परक चित्र है जिसमें अतीत के सर्प को वर्तमान का मयूर डस जाने को तत्पर है यद्यपि वह मयूर अर्थात् वर्तमान पृष्ठभूमि में कुछ अस्पष्टता के साथ चित्रित किया गया है । उनके अतिरिक्त विज्ञापनों के माध्यम से पत्रिका ने सत्साहित्य का प्रचार किया ।

परम्परागत शास्त्रीय ढंग की समीक्षा से हटकर पत्रिका ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तर पर व्यक्तिपरक समीक्षा का सूत्रपात किया उदाहरणतः निराला की 'अप्सरा' और 'अलका' की समीक्षाएँ । पुस्तक समीक्षा में भी व्यक्तिपरक ढंग की समीक्षाएँ लिखी गईं यथा दिसम्बर'35 के अंक में छपी जैनेन्द्र कृत 'एकांत' की समीक्षा । तुलनात्मक एवं बालोपयोगी साहित्य की माँग करते हुए पत्रिका ने प्रलय के सौंदर्यशास्त्र — अर्थात् लेखक-पाठक संबंध पर भी विचार किया । यथा 'लेखक और पुरस्कार', 'साहित्यिक रचनाएँ और धन्यवादात्मक पत्र', 'पत्रों के ग्राहकों का आपत्तिजनक व्यवहार', 'पत्र-प्रकाशन' एवं 'पत्रकार' आदि निबंध ।

सारतः हम कह सकते हैं कि पत्रिका ने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी युगीन सीमाओं से आगे जाकर भावी युग चेतना का पथ-प्रदर्शन किया तथा उन अर्थों में स्वयं को समाज का मशालबरदार हरावलदस्ता सिद्ध किया ।

—

चतुर्थ अध्याय

'हंस' में प्रकाशित सामग्री —— एक विवेचन

पूर्ववर्ती अध्यायों में हम देख चुके हैं कि 'हंस' का जन्म काल अनेक दृष्टियों से हिन्दी साहित्य और भारतीय जन-जीवन में क्रांति निर्माण का युग था। देश की बहु-आयामी पराधीनता से मुक्ति की आकांक्षा में समस्त भारतीय समाज करवट बदल रहा था। जनता की चेतना जगाने वाले कलाकारों में परतन्त्रता के बन्धनों से मुक्त होने का विचार प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रगतिशील साहित्यकारों ने भी इस राष्ट्रीय प्रयत्न को गति प्रदान की। विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ अस्तित्व में आईं और साहित्य-रचना के माध्यम से मिट्टी का दीप प्रगतिशील हाथों में लेकर जनक्रांति का साहित्य देने के निमित्त 'हंस' का जन्म हुआ। प्रस्तुत अध्याय में 'हंस' में प्रकाशित सामग्री की विवेचना का ही एक प्रयास निहित है।

'हंस' का प्रथमांक मार्च सन् '30 में प्रकाशित हुआ जिसे प्रकाशन काल के आरंभ से ही आर्थिक, बौद्धिक और राजनीतिक संघर्षों का मुकाबला करना पड़ा। सन् '30 से '36 तक के काल में सदैव युग के मुख्य लेखकों द्वारा भारतीय स्वाधीनता एवं साहित्य के यथार्थपरक प्रगतिशील मूल्यों का संदेश ही पत्रिका में लिखा गया। 'हंस' ने अपनी प्रकाशित सामग्री — विविध-विषयक — के माध्यम से भारत की मन्द, शिथिल और निर्जीव जनता में महान सत्य को पहचानने की शक्ति दृढ़ता से पनपाने में सहायता दी। स्वयं प्रेमचंद के शब्दों में — सवाल यथार्थ के चित्रण का नहीं वरन् एक सर्जनात्मक रूप में शक्ति को एकत्र करके उसे आगे बढ़ाने का था। इस हेतु हंस ने साहित्यिक पत्रकारिता की परम्परागत योग्यता को समेटते हुए भी अपने युग की साहित्यिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए वह युग-विधायक कार्य किया जो अब तक की पत्रकारिता के द्वारा संभव न हुआ था।

यद्यपि 'हंस' ने अपने प्रथम अंक में ही उसे विविध विषय सम्पन्न कहानियों का मासिक पत्र घोषित किया, किन्तु फिर भी विविध विषयों पर निबंध, कविताएँ, गद्य गीत, लघु-कविताएँ, संस्मरण, नाटक, तथा कालान्तर में धारावाहिक उपन्यास आदि से संबंधित सामग्री छापने के अतिरिक्त विविध स्तम्भों के अन्तर्गत मुक्ता मंजूषा में हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के विशिष्ट पत्रों की उपयोगी सामग्री का सार संकलित किया गया है। 'हंसवाणी' शीर्षक सम्पादकीय स्तंभ के अन्तर्गत तत्कालीन ज्वलंत साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर सूचनाएँ एवं क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गई हैं। 'नीर-क्षीर' शीर्षक स्तंभ में 'हंस' ने अपने 'नीर-क्षीर' विवेक से पुस्तक समीक्षा की है। अनेक प्रकार के विज्ञापन भी 'हंस' ने अपने विविध अंकों में प्रकाशित तथा विज्ञापित किए। अनेक रंगीन एवं सादे चित्र छापते हुए यत्रतत्र पाठकीय प्रतिक्रिया भी 'हंस' ने व्यक्त की। इस प्रकार साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों को छूते हुए 'हंस' ने सामग्री का संकलन किया, जिसके संक्षिप्त विवेचन का प्रयास ही इस अध्याय में संभव हो सकेगा।

<u>निबंध :</u> सर्वप्रथम हम 'हंस' में प्रकाशित निबंधों और फुटकल लेखों की विवेचना करेंगे। 'हंस' के निबंध संबंधी विषय चयन में सर्वत्र अनेकरूपता परिलक्षित होती है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, समाज-दशा, देश-दशा, पर्व-त्योहार, मेले, जीवन-चरित्र तथा ऐतिहासिक प्रसंगों के अतिरिक्त जगत-जीवन से संबंध रखने वाले सामान्य विषयों – यथा मनोविज्ञान, कल्पना, भावुकता – आदि पर 'हंस' ने विविध निबंध प्रकाशित किए। राजनीति से संबंधित 'हंस' ने अनेक निबंध प्रकाशित किए जिनमें तत्कालीन भारतीय राजनीति की दशा और दिशा, उसके गुण-दोष, जनता की राजनीतिक सक्रियता, समाज के पिछड़े और दबे हुए वर्गों में नवजागृत चेतना, भारत की पराधीनता के कारण, जातीय आदर्श के अभाव आदि की चर्चा करते हुए 'हंस' ने उसके सुधार, विकास एवं संशोधन के उपाय सुझाये। इस क्रम में 'स्वदेशांक' (अक्टूबर-नवम्बर '32) निकालकर 'हंस' ने अपनी राजनीतिक जागरूकता का परिचय दिया। [illegible]

स्पष्ट समझ सकने वाली पत्रिका का स्वर जनवरी-फरवरी'31 के आत्मकथांक में ही देखिए — '' सच पूछिए तो लड़कों के हाथ में बड़े-बड़े आदमियों की जीवनियाँ इसलिए नहीं दी जाती हैं कि वे उनका अनुकरण करें ; किन्तु इसलिए कि उनकी प्रशंसा करना सीख जाएँ । स्वामी दयानंद की जीवनी पढ़कर कोई लड़का आत्मा के संतोष के लिए तथा संसार के उपकार के लिए घर से उड़ने की तैयारी करने लगे तो अव्वल दर्जे का नालायक समझा जायेगा... ''

'सच पूछिए, तो लोगों ने अपने जीवन को एक बड़ा भारी झूठ बना लिया है । ज़रा-ज़रा सी बातों में लोग दुहरी कोट रखते हैं, जब चाहा, जैसा बदल लिया । एक ओर देश के उद्धार के लिए जीवन दान देने पर व्याख्यान दिया जा रहा है, दूसरी ओर लड़के को डिप्टी कलेक्टरी दिलाने की कोशिश की जा रही है । एक ओर पुस्तकों की बड़ाई की जा रही है, दूसरी ओर पुस्तकों में व्यर्थ रुपया नष्ट करने से रोका जाता है । एक ओर गाँधी जी के सादे रहन-सहन को आदर्श बताना और दूसरी ओर सूट के लिए काशी-सिल्क का देना । अजब दुरंगी दुनिया है ।''[1] 'ठंठाशास्त्र' जैसी टिप्पणी एवं 'दमन की सीमा' शीर्षक हंसवाणी ने ठंठाशास्त्र का सूत्र – जो उस समय तक चर्चा का विषय नहीं बन पाया था — न केवल जनता को समझाया अपितु अपनी विचारधारा को जनता में फैलाकर जोश लाने का खतरा भी मोल लिया । कांग्रेस के नेताओं पर किए गये व्यंग्य पुलिस और शासन की तीव्र आलोचना में राष्ट्रीयता का ओज, स्पष्टोक्ति करने का साहस एवं व्यापारिक किस्म की कारोबारी पत्रकारिता से दूर रहने की मनोवृत्ति ही झलकती है यथा — ''कांग्रेस के लीडरों ने ही अक्लमंदी का ठीका लिया है और जो लोग उसके बाहर हैं, वे सब देश-द्रोही हैं , यह सरासर अन्याय है ।''[2] सरकार पर व्यंग्य का एक और नमूना देखिए — '' निहत्थे सिर झुकाकर बैठे हुए खामोश जुवान आदमियों पर डंडों और भालों का वार शुरू हो जाता है और यदि किसी तरफ से एक-आध पत्थर आ गया चाहे वह खुफिया पुलिस वालों ने ही क्यों न फेंका हो, प्रलय हो जाता

1- जनवरी-फरवरी'31, पृ022

2- जनवरी'31, हंसवाणी

है । बस फायर का हुक्म मिल गया । धड़ाधड़ गोलियाँ चलने लगी, पड़ापड़ लोग गिरने लगे और हमारे अफसर लोग खुश होकर तालियाँ बजाने लगे । वाह क्या बहादुरी है ? क्या डिसीप्लिन है ?''[1]

वस्तुतः 'हंस' का उद्देश्य था पत्रिकारिता के माध्यम से जनता को स्वराज्य संग्राम में तल्लीन करना एवं विजय के आदर्श से समन्वित कुछ ऊँचे दर्जे की रचनाएँ प्रकाशित करना । इसलिए 'हंस' विशुद्ध नेताओं की तरह नहीं वरन् साहित्यकार की भांति आगे बढ़कर उन्हें राह सुझाता है :— ''हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे सबसे ज्यादा जोर इसी बात पर दें कि सबसे पहली शर्त डोमिनियन स्टेट की हो । जब सरकार इस शब्द को मान ले तब वे आगे बढ़ें । अन्यथा अपनी आबरू लेकर भारत लौट आवें और राष्ट्र संग्राम में सम्मिलित हो जावें ''[2] यद्यपि 'हंस' जानता है कि — देश के नेता हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं से कुछ सीखने की अपेक्षा नहीं रखते — तब भी अपने कर्तव्य पालन पर दृढ़ 'हंस' बार-बार उन्हें राह सुझाता है, साथ ही जनसामान्य तथा शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करता है । भारतीय राजनीति के अभावों की चर्चा करते हुए निरन्तर एक जातीय आदर्श के निर्माण के लिए साहित्यकारों एवं देश की जनता से मांग 'हंस' का मूल स्वर है जिसके बिना देश को स्वाधीनता प्राप्त करना संभव न होगा ।

पत्रिका ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी विभिन्न लेख तथा फुटकल टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित करते हुए पूंजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा साम्यवाद आदि के स्वरूप से देश की जनता का परिचय कराया और विभिन्न देशों की राजनीतिक गतिविधियों का हवाला देते हुए भविष्य में तद्विषयक संभावनाओं पर भी विचार किया । उदाहरणार्थ 'संसार की दोरुखी प्रवृत्ति' शीर्षक 'हंसवाणी' में 'हंस' देखता है कि —'' दो-तीन साल पहले इंग्लैंड में मजदूर पार्टी का अधिकार , रूस और चीन आदि में सोवियत की सफलता और अन्य देशों में जन-पक्ष की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि संसार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद का प्रभुत्व उठनेवाला है, या बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है ;

1- मार्च '30, हंसवाणी
2- वही

लेकिन यकायक जो नक्शा पलटा, तो इंग्लैंड में साम्राज्यवादियों का फिर जोर हो गया, जर्मनी और इटली में पूंजीवाद ने एक नये रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी साम्राज्यवाद ने हमला बोल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि कई सालों तक संसार की यह दो रुखी चाल जारी रहेगी... किसी जनता की प्रतिनिधि संस्था को उखाड़ देना राष्ट्र में गृह युद्ध की घोषणा करना है ''[1] । इसी क्रम में 'हंस' ने देशी-विदेशी अनेक राजनीतिक व्यक्तियों एवं उनके विचारों का परिचय भी अपने पाठकों को दिया यथा —'रिज़ा शाँ पहलवी और वर्तमान फारस' (कामेश्वर शर्मा कमल : मार्च'33,पृ019) , 'वर्तमान रूस का राष्ट्रपति स्टालिन' (कामेश्वर शर्मा कमल : जनवरी'34, पृ028), 'विनोद मूर्ति प्रेसीडेंट पटेल' (श्री गोपाल वल्लभ : मार्च'34,पृ040) तथा 'समर्थ रामदास और उनका राष्ट्रीय कार्य' (अक्टूबर-नवम्बर'32,पृ0106) इसका सुन्दर उदाहरण हो सकता है जिसमें दास-बोध के माध्यम से रामदास के व्यक्तित्व एवं विचारों का परिचय देते हुए राष्ट्रीय कार्य में उनके योगदान की चर्चा की गई है ।

देश दशा और समाज-दशा पर भी 'हंस' ने बहुमूल्य सामग्री प्रकाशित की जिसमें पूंजीवादी सभ्यता और तज्जनित बुराईयों, स्त्री जाति का समाज में स्थान, उसकी दशा एवं जागृति, शिक्षा-पद्धति एवं विभिन्न वर्गों पर उसके प्रभाव, समाज में प्रचलित कुरीतियों, साम्प्रदायिकता की भावना आदि का हवाला देते हुए समाज के नव-निर्माण का पत्रिका ने प्रयास किया । यथा — 'मान्टेसरी शिक्षा पद्धति — शिक्षा पर एक नई दृष्टि' (श्री चन्दूलाल : दिसम्बर'33) 'शिक्षित स्त्री समाज'(श्री प्रकाश जेतली : जनवरी'34), 'विवाह और समाज में स्त्रियों का स्थान' (श्री शीतल प्रकाश सक्सेना : दिसम्बर'32,), वर्तमान स्त्री शिक्षा-प्रणाली और सुधार' (श्री प्रकाश जेतली : सितम्बर'34), काशी के मेले ' आदि निबंध प्रकाशित किये गये ।

1- जून'33,पृ0 60

पत्रिका ने कुछ साहित्यिक निबंध भी प्रकाशित किए जिनमें से कुछ इस प्रकार है —— 'अनुभूति पर एक नई दृष्टि' (श्री आर0सी0 प्रसाद सिंह : जून'34), 'कल्पना' (दिसम्बर'35), 'मनोविज्ञान', 'साहित्य की भूमिका और उसका सनातन सत्य' (डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी : अक्टूबर'34, पृ0 3), 'साहित्य और समाज' (एस0के0 चौबे : अप्रैल'38, पृ0 29) आदि। देशी-विदेशी साहित्यों का विश्लेषण तथा विवेचन करते हुए भी पत्रिका ने बहुत से निबंध प्रकाशित किए यथा — 'सूरदास का बालकृष्ण' (सुशील कुमार चौबे : जुलाई'36, पृ0 13) तथा 'टॉमस हार्डी का निराशावाद' (जून'35, पृ0 40)। इन निबंधों में पत्रिका ने न केवल विदेशी साहित्य के प्रति अपनी यथार्थपरक रुझान का परिचय दिया अपितु समाज के प्रति अपनी परिवर्तित मनोदृष्टि की भी सूचना दी —— " ईश्वर का ज़िक्र बड़े मौके से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उससे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मण्डल पर जो अनर्थ किए हैं और कर रहे हैं उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था... ... नकली ईश्वर से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।... ... युवकों का भौरापन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है जिसके हम समर्थक नहीं... ... वर्तमान यूरोपीय साहित्य बड़े वेग से अबाध प्रेम की ओर जा रहा है... ... यह पेट भरों की स्वाद-लिप्सा है... सदियों के बन्धन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है, तो वह सर्वभक्षी हो जाना चाहता है। इस क्षुधा तुरता की दशा में उसे खाद्य और अखाद्य कुछ नहीं सूझता... अब स्त्री भी यूरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन कर रही है। उस शीत-प्रधान देश के लिए सदैव उत्तेजना की जरूरत है। वहाँ जमे हुए घी के पिघलने के लिए थोड़ी सी गर्मी चाहिए ही। यहाँ तो घी यों ही पिघला रहता है, उसके लिए आँच दिखाने की जरूरत नहीं। रसिकता भोजन रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नहीं रह सकता। "

''... ... दुख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक समान हो रहा है उनका कारण दूषित समाज संगठन है। सोशियोलोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।''1

पत्रिका ने अपने विभिन्न अंकों में अनेक वैज्ञानिक लेख लिखकर विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले नवीन - प्राचीन आविष्कारों एवं मानव-जीवन के लिए उनकी उपयोगिता पर दृष्टिपात करते हुए उनसे होने वाले लाभ-हानि का भी विवेचन किया। यथा — (1) भोजन की आवश्यकता (श्री र0ज0त0 : अक्टूबर'35, पृ0 21), (2) भारत में ब्रोडकास्टिंग' (श्री श्यामनारायण कपूर : अगस्त'33, पृ0 46), (3) 'एल्युमिनियम तथा उसकी उपयोगिता' (स्वामी पुरुषोत्तम दास : जनवरी'34, पृ0 35) तथा (4)' प्रोटीन' (श्री र0ज0त0 : अप्रैल'32, पृ0 19)। तांबा अल्युमिनियम और अन्य खनिज सम्पदा प्राकृतिक स्नान, सापेक्षवाद आदि बहुत से विषय हैं, जिनपर 'हंस' ने प्रथम बार निबंधों के माध्यम से प्रकाश डालकर पाठकों को नए-नए ज्ञान धरातल का संस्पर्श कराया। उदाहरण के लिए 'प्रोटीन' शीर्षक निबंध में 'प्रोटीन' संबंधी सामान्य जानकारी देते हुए उसके स्रोतों एवं उपयोगिता की चर्चा करते हुए स्वास्थ्य की दृष्टि से उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया गया है। व्यापार संबंधी अनेक निबंध प्रकाशित करते हुए पत्रिका ने व्यापार संबंधी प्रमुख बातों को रेखांकित करते हुए उसके सामाजिक, आर्थिक पहलुओं पर प्रकाश डाला। पत्रिका में छपे कुछ व्यापार संबंधी लेख निम्न हैं — (1) 'मेरी आत्मकथा' (श्री लक्ष्मण काशीनाथ क़िर्लोसकर : जनवरी-फरवरी'31, पृ0 135), 'काशी का बनारसी वस्त्रों का उद्योग' (श्री मंगला प्रसाद अवस्थी : अक्टूबर-नवम्बर'33, पृ0 181), 'व्यापारिक संकट तथा सिक्के की नीति' आदि। 'मेरी आत्मकथा' शीर्षक आत्मकथा भारतवर्ष में क़िर्लोसकर के यंत्र-कारखाने की स्थापना से संबंधित है तो 'काशी का बनारसी वस्त्रों का उद्योग' काशी में बनारसी वस्त्र-निर्माण से संबंधित है।

1- 'साहित्य की प्रगति' शीर्षक हंसवाणी

'अपनी बात' (आनंद मोहन भिक्षु : जनवरी-फरवरी'31,पृ0 146) तथा 'शरीर रूपी राष्ट्र' (वासुदेव शरण अग्रवाल : दिसम्बर'32, पृ0 2) जैसे आध्यात्म संबंधी निबंध भी पत्रिका ने यत्र-तत्र प्रकाशित किये । अपनी बात में श्रीयुत आनंद भिक्षु सरस्वती के अपने विचार देखिए — ''जब मेरा जन्म हुआ था, तब सुना-सुना हंसते - फिरते थे, मैं पड़ा रोता था, क्यों रोता था यह नहीं मालूम । तब मैं अबोध बालक था । पर अब ? अब भी — इतना समझदार और बूढ़ा होकर भी यह रहस्य नहीं जान पाया । शायद रोना मात्र जीवन की सौगात है और मनुष्य उसे अपने पूर्व संचित कर्मों के उपहार स्वरूप इस संसार में अपने साथ लाता है,.. ... ''

''मैं का जानना उतना कठिन नहीं जितना ज़रूरी है ; पर मैंने इसे कठिन समझा ज़रूरी नहीं । और इसीलिए मैं वस्तुतः किसी को भी न जान पाया । और मेरा सारा समय, सारा जीवन , सारा उद्योग यों ही निष्फल गया और अब जानने का समय और अवसर, दो में से कोई भी अपने अधिकार में नहीं रहा ! हा ! !''

'हंस' ने चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत एवं नृत्यकला आदि पर भी विभिन्न निबंध प्रकाशित कर पाठकों को इस दिशा से भी परिचित कराया । 'संगीत का चिकित्सात्मक महत्त्व' (गोविन्द मोहन मिश्र : अप्रैल-मई'34,पृ014), 'प्रसाधिका की प्राप्ति'(राय कृष्णदास : जनवरी'31,पृ0 13), 'भारतीय कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव' (राय कृष्णदास : जनवरी'33,पृ0 103) तथा 'उदयशंकर भट्ट और आध्यात्मिक नृत्य' (रघुराज शरण शर्मा : अप्रैल-मई'34, पृ067) आदि निबंधों में कला को समाज,आध्यात्म एवं इतिहास से जोड़कर देखने के अतिरिक्त उनकी सामाजिक उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है । उदाहरणार्थ 'संगीत का चिकित्सात्मक महत्त्व' शीर्षक लेख में संगीत की सामाजिक उपादेयता, महत्ता एवं जीवन में उसकी आवश्यकता का विवेचन करते हुए उसके चिकित्सात्मक स्वरूप का उद्घाटन किया गया है । 'प्रसाधिका की प्राप्ति' शीर्षक निबंध में प्रसाधिका के वर्णन का एक नमूना देखिए — ''भारतीय मूर्ति कला का वह एक दिव्य रत्न है । उसकी निर्माण शैली मथुरा की है और जिस लाल पत्थर

की वह बनी है, वह मथुरा के आस-पास ही पाया जाता है ; अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह मथुरा मण्डल की बनी है —उसका निर्माण कार्य विक्रमाब्द से एक शताब्दी पूर्व या पश्चात् होना चाहिए । वह पूज्य नहीं, अलंकरण मूर्ति है, जो मथुरा में निर्मित होकर शुंगों के प्रासाद या उद्यान की सजावट के लिए अयोध्या लाई गई होगी । जातकों में इस बात की चर्चा मिलती है कि राजप्रासादों में ऐसी अलंकरण मूर्तियाँ रखी जाती थीं ।... "[1]

इसी क्रम में पत्रिका ने अनेक संस्मरण भी प्रकाशित किये । जिनका साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक महत्व है । 'प्रेमघन की छाया स्मृति' (पं0 रामचन्द्र शुक्ल : जनवरी-फरवरी'31, पृ03) जहाँ प्रेमघन की साहित्यिक व्यक्तित्व की स्मृति को उजागर करता है'वही मतवाला कैसे निकला' (शिवपूजन सहाय : जनवरी-फरवरी'31, पृ011) में मतवाला के जन्म और प्रथम सम्पादन की कथा है । 'प्रेस फोर्ड से मैं कैसे मिला' (श्रीराम शर्मा : जनवरी-फरवरी'31, पृ067), 'भारतीय पत्रकार' श्रीराम शर्मा की प्रेस फोर्ड से भेंटवार्ता का उल्लेख करते हुए भारतीय पत्रकारों से उस कार्यकुशलता की माँग करता है जो साक्षात्कार लेते समय आवश्यक होती है । साथ ही यह निबंध इस दिशा में उनका पथ-निदर्शन भी करता है । 'मेरी विचित्र कहानी' (श्री जगन्नाथ खन्ना) तथा 'मेरी लद्दाख यात्रा' (श्री राहुल सांकृत्यायन) आदि यात्रा-संस्मरण हैं जिनका ऐतिहासिक - समाजशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्व है ।

कुल मिलाकर 'हंस' के इन निबंधों का स्वर विचारात्मक है जिसके माध्यम से प्रेमचंद ने भारतीय जीवन जगत के सामाजिक, राजनैतिक, सैद्धांतिक, आर्थिक एवं व्यावहारिक पक्षों का संस्पर्श करते हुए संपूर्ण जीवन को मानवीय चेतना की कसौटी पर कस कर इस प्रकार समाधान सहित चित्रित किया कि वह हमारे वास्तविक जीवन की शक्तिशालिणी बन गया ।[2]

<u>कथा-साहित्य :</u> 'हंस' में कथा-साहित्य का वैविध्य-पूर्ण स्रोत निहित है । 'हंस' में प्रकाशित कहानियों को विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है । जैसे —

1- जनवरी-फरवरी'३8 31, पृ016

2- पत्रकार प्रेमचंद और 'हंस' : डा0 रत्नाकर पाण्डेय

सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता को उभारने वाली कहानियाँ, भिन्न-भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखने वाली कहानियाँ, देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जन-समुदाय की दुर्दशा सामने लाने वाली कहानियाँ, राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित नवयुवकों के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्कर्ष का चित्र खड़ा करने वाली कहानियाँ, सामाजिक अन्तर्विरोधों को उजागर करने वाली कहानियाँ आदि । स्वयं प्रेमचंद ने बहुत सी कहानियाँ लिखकर इस परंपरा का विकास करने के अतिरिक्त बहुत से नये - पुराने कहानीकारों को भी 'हंस' के माध्यम से उभारा । 'हंस' में बहुत कम कहानियाँ छायावादी प्रवृत्ति से परिचालित हैं । यथा — श्री यादवेन्द्र लिखित 'आशा' कहानी (अक्टूबर-नवम्बर '32) जो पुनरुत्थानवाद से परिचालित है । अधिकांश कहानियों में राष्ट्रीय प्रेम, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा, प्राचीन-जर्जर मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष का भाव, पद-दलित-वर्ग की जागृति आदि का संकेत निहित है । 'अपूर्ण-आत्मा' (श्री राधाकृष्ण : मार्च '32, पृ07) शीर्षक कहानी नारी-पुरुष और पति-पत्नी के सामाजिक-संबंधों पर प्रकाश डालते हुए पुरुष समुदाय के नारी-वर्ग के प्रति दृष्टिकोण एवं नारी की उस बंधन से मुक्ति पाने की छटपटाहट को स्पष्ट करती है — ''डा0 सुरेश प्रसाद श्रीवास्तव उन लोगों में से थे, जो स्त्री को केवल अवकाश के समय का मनोरंजन समझते हैं । और वह मनोरंजन भी कैसा ? उत्कट मनोरंजन । चुहल, हँसी-मजाक, संगीत, प्रमोद इत्यादि सभी प्रणय के फुहारे उनके इशारे मात्र से ही शत-सहस्त्र धारों में से होकर छूटने लगें । स्त्री को जिस रूप में देखना चाहें उसी रूप में पावें ?... केवल वे यही चाहते थे, मनोरंजन के समय स्त्री के प्रेम का बेसुध-सोता खुल उठे ।''[1] स्त्री के प्रति ऐसे विचार रखने वाले पति की पत्नी की पूर्णत्व की प्राप्ति हेतु छटपटाहट भी व्यग्रता से परिपूर्ण किन्तु अस्पष्ट है — ''रविवार के दिन सरला को ऐसा मालूम होता था, जैसे उसकी कोई चीज खो गई हो । उसकी काल्पनिक अपूर्णता और भी अपूर्ण होकर जैसे अपने ही भीतर अपने को पकड़ने

1- मार्च '32, पृ07

के लिए विकल हो जाती थी। अथि बन्द करके वह कल्पना द्वारा अपनी अपूर्णता को संपूर्ण करती थी... ... इसी प्रकार की असंभव और इन्द्र-जालिक कल्पनाएं उसकी आबद्ध पलकों के नीचे सत्य होकर खेला करती थीं। कल्पना द्वारा असत्य को सत्य और असंभव को संभव करके सरला एक संदिग्ध और दीर्घ निश्वास छोड़ती थी।''[1]

जब महादेवी नारी की मुक्ति की आकांक्षा रहस्यवादी स्वरों में ससीम - असीम तथा व्यक्त अपूर्णता और अव्यक्त पूर्णता कहकर व्यक्त कर रही थीं, तब उसी मनोवृत्ति की ठीक-ठीक परख 'हंस' ने भी की थी, यह कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। 'मोहिनी', 'संतरों की डाली' तथा 'वेश्या' जैसी कहानियाँ जहाँ समाज में नारी की दशा पर प्रकाश डालती हैं कि किस प्रकार वे पुरुषों के क्रूर, पाशविक, शंकालु स्वभाव का शिकार बनती हैं, वहीं 'मोटर का मूल्य' (वीरेश्वर : फरवरी'33, पृ010) तथा 'उपेक्षिता' (वीरेन्द्र नाथ दास : फरवरी'33, पृ015) जैसी कहानियाँ 'दहेज' जैसी सामाजिक कुरीतियों की ओर इशारा करती हैं। 'पतन की आँधी' इन्हीं सामाजिक कुरीतियों से उत्पन्न व्यभिचार और वेश्यावृत्ति के सामाजिक आधार का पर्दाफाश करती है। 'कमलाल' (श्री जनार्दन राय : अगस्त'33, पृ034) शीर्षक कहानी उस शिक्षा-पद्धति पर व्यंग्य है जिसने मनुष्य को इतना हृदयहीन बना दिया है कि पुत्री की मृत्यु के समय भी पिता 'बैंकिंग सिस्टम' के अध्ययन में निमग्न रहता है, जिसने समस्त पारिवारिक मधुर संबंधों को नीरस एवं निःसत्व बना दिया है। 'वधू परीक्षा' (शिवरानी देवी : अप्रैल'32, पृ045) समाज में विवाह की पद्धति पर चोट करती है, जिसने कन्या को एक 'माल' के रूप में परिणत कर दिया है। कहानी की नायिका निर्मला की पीड़ा यही है — '' मानो वह इतनी तुच्छ है कि जब तक रुपये की थैली उसके पैरों से न बाँधी जाए, वह वर के साथ तराजू पर रखी तुली ही नहीं जा सकती। लोग कितने स्वार्थी हैं; वर

1- मार्च'32, पृ09

पक्ष को यह संतोष नहीं होता कि पराये घर की एक लड़की मिली जाती है, पाली-पोसी हुई, जो पहले ही दिन से घर के काम-धन्धे में लग जायेगी। सारे घर की टहल होगी। सबके दुःख-दर्द में शरीक होगी। उस पर यह टिप्पुन्नस कि लड़की पढ़ी-लिखी हो, रूपवती हो, घर के कामों में कुशल हो। मानों विवाह की सारी गर्ज कन्या की है, वर को कोई गर्ज नहीं ... और स्त्री क्यों यह अपमान सहती है। क्यों इतने दिनों से वह इस अपमान को सिर पर ओढ़ती चली आई है? क्यों उसे ठोकर नहीं मार देती? लोग कहते हैं वह दुर्बल है, उसे किसी रक्षक की जरूरत है। क्या दस-पांच स्त्रियाँ एक साथ मिलकर नहीं रह सकतीं।''[1] और जब वर उसकी रूप-राशि पर मुग्ध होकर विवाह की स्वीकृति दे देता है तो वह स्वयं वर को अस्वीकृत करती हुई कह उठती है — ''विवाह स्त्री और पुरुष दोनों की ही पसंद से होना चाहिए... इसलिए कि जिस विवाह का आधार रूप है, वह रूप की ही तरह अस्थिर होगा और जिस पुरुष के हृदय में रूप का ऐसा मोह है, वह इस योग्य कदापि नहीं है कि कोई स्त्री उसे वरे।'' उसका अन्तिम निर्णय है — '' फिर मैं क्यों समझूं कि पुरुष विवाह करके कन्या का उद्धार करता है। मैं तो समझती हूं कि कन्या विवाह करके पुरुष का उद्धार करती है।''[2]

'दूध का दाम' (प्रेमचंद : जुलाई'34, पृ046), 'अछूत' (श्री रुद्र नारायण झा : जनवरी'34, पृ031) जैसी कहानियाँ अस्पृश्य कहलाने वाली जातियों के सवर्णों द्वारा किये जाने वाले शोषण से संबंधित हैं किन्तु साथ ही उक्त जातियों में नव-जागृत आत्म-सम्मान के भाव एवं चेतना को भी जागृत करती हैं और फलतः विषय का विधेयात्मक प्रतिपादन करती हैं। 'हंस' ने अछूत समस्या को जहाँ भी उठाया है वहाँ उसका विरोध समाज की घृण्य व्यवहारिकता पर कटु प्रहार करने वाला सिद्ध हुआ है। अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था से क्रांति करके गरीबों और अछूतों की आवाज को बुलन्द लहजे में उद्घोषित करने के पक्ष में 'हंस' सामाजिक क्रांति का जन्म देता है। 'चमार' कहानी का नायक दूसरों की दया पर बिना परिश्रम किये एक पैसा भी लेना अपने स्वाभिमान पर चोट समझता है और

1- अप्रैल'32, पृ045

2- वही, पृ048

इसीलिए अपना निवास छोड़कर चला जाता है। इसके अतिरिक्त 'हंस' की कुछ कहानियाँ राजनीतिक स्वरों को मुखरित करती हैं। यथा – 'शादी' (गोपाल सिंह नेपाली) तथा 'डामुल का कैदी' (प्रेमचंद : जनवरी'33,पृ0।।) आदि। गाँधीवादी आग्रह से मुक्त 'शादी' कहानी में स्वदेश प्रेम, देश के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना झलकती है जहाँ युवक-नायक उदय आत्म-बलिदान देकर स्वतंत्रता की देवी से अपना विवाह रचाता है और उसकी मृत्यु का जलूस उसकी शादी की बारात में बदल जाता है। राष्ट्र-प्रेम की यह चरम सीमा है। 'डामुल का कैदी' मजदूर आंदोलन को यथार्थवादी स्वरों में मुखरित करती है भले ही कहानी के अन्त की अपनी सीमाएं हैं। 'आहुति' (अगस्त'30,पृ043) तथा 'जुलूस' (मार्च' 30,पृ045) जैसी कुछ अन्य कहानियाँ भी प्रेमचंद की,प्रकारान्तर से, 'हंस' की स्वराज्य संबंधी धारणा को भी व्यक्त करती हैं। 'आहुति' की रुक्मणी कहती है— '' अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा - लिखा समाज ऐसे ही स्वार्थांध ही बना रहे तो मैं कहूँगी कि ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। कम-से-कम मेरे अर्थ में स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान की जगह गोविन्द बैठ जाएं।'' 'जुलूस' का हंगामा देखकर मैकू सोचता है कि इतने बड़े सामूहिक प्रयत्न में नगर का एक भी बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यों नहीं दिखलाई पड़ता और फिर उसके माध्यम से स्वयं प्रेमचंद कहते हैं — ''बड़े - बड़े आदमी क्यों जलूस में आने लगे? उन्हें इस राज्य में क्या आराम नहीं है? महलों में रहते हैं, मोटरों में घूमते हैं, साहबों के साथ दावतें खाते हैं। कौन तकलीफ है? मर तो हम रहे हैं जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं है। इस वक्त कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, ग्रामोफोन पर गाने सुनता होगा। कोई पार्क की सैर करता होगा। कौन यहाँ आये पुलिस के कोड़े खाने के लिए।''

... ... यह है उस युग की गाँधीवादी राजनीति की सही पहचान जिसमें अपशक्तियों को प्रश्रय देने वाले ऐसे ही लोग गाँधी जी की आँखों में धूल झोंकते थे तथा उस युग की जनतांत्रिक मनोवृत्ति का विराट दिग्दर्शन।

इसके अतिरिक्त 'हंस' में कहीं-कहीं विशुद्ध सतही प्रचारात्मक स्तर की कहानियाँ छपी हैं। 'चरखू की चालाकी' (श्री राधाकृष्ण : मई'32, पृ019) शीर्षक कहानी ऐसी ही एक कहानी है जिसमें हिन्दू-मुसलमानों को एक घर में रहने वाले दो भाईयों के रूप में चित्रित किया गया है, अंग्रेजों को 'चरखू सौदागर' के रूप में लाकर उनकी 'फूट डालो राज करो' वाली नीति को दर्शाया है, नवजागृत राष्ट्रीय भावना को बालक 'क्रांतिकुमार' के रूप में एवं 'चरखू' द्वारा उसके वध को दिखाते हुए एक साधु के रूप में —— '' जिसके कान अपेक्षाकृत बड़े थे, सामने के दो दाँत टूटे हुए, हाथ की उँगलियों के पोर घुटनों से भी नीचे तक पहुँचते थे''[1] —— गाँधी जी के मंच पर आगमन एवं उनकी सलाह अनुसार दोनों भाईयों को चरखू से मुक्ति पाते हुए दिखाया है। सारतः पत्रिका ने विषय-चयन के क्षेत्र में समाज की प्रगतिशील शक्तियों और जनवादी बौद्धिक दृष्टि को ही समेटने का प्रयास किया। रूढ़ियों के महल को ढहा देने की इच्छा रखने वाली पत्रिका ने अपनी सुनिश्चित और सुधारवादी प्रवृत्तियों के आग्रह के कारण विविध सामाजिक पक्षों पर अपनी पैनी नजर गड़ाई है और गतिशील साहित्य की उद्देश्यपूर्ण सृष्टि अपने युग की गाँधीवादी आदर्शवादी सीमाओं का यत्र-तत्र अतिक्रमण करते हुए की। डा0 रत्नाकर पाण्डेय के शब्दों को व्यवहृत करते हुए हम कह सकते हैं कि —— '' प्रेमचंद की विचारवादी क्रांति अथवा आन्दोलन के बाहर कोई नई सामग्री देने में सफल नहीं हो सकी लेकिन उस सामग्री का साहित्य के माध्यम से उन्होंने जितना प्रचार किया उसे मंच के नेताओं के वक्तव्यों की अपेक्षा जनता ने अधिक दुलार दिया, प्यार किया, यह सब होते हुए भी प्रेमचंद की दृष्टि से ही जीवन देखा जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता।''[2] शैली की दृष्टि से 'हंस' की प्रायः सभी कहानियाँ प्रेमचंद का ही अनुकरण करती हैं।

1- मई'32, पृ0 22

2- पत्रकार प्रेमचंद और 'हंस' : डा0 रत्नाकर पाण्डेय, पृ0138

कविताएँ :

'हंस' में छपी हुई कविताएँ प्रमुखतः छायावादी प्रवृत्तियों की ही पोषक हैं । यथा — 'यौवन से' (सुरेन्द्र बालुपुरी : जनवरी'34), 'प्रतीक्षा' (रामकुमार वर्मा : जनवरी'35), 'करुण कहानी' (काली प्रसाद बिरही : अक्टूबर-नवम्बर'30), 'अश्रुबिंदु से' (सोहन लाल द्विवेदी : मार्च'34) तथा 'बादल' (श्री रामकुमार वर्मा : फरवरी'34) आदि । इन कविताओं में 'कल्पना', 'सौंदर्य रहस्य', 'विरह वेदना', 'उल्लास', 'जिज्ञासा' आदि के ही भाव प्रमुख हैं । उदाहरण के लिए श्री अशोक की 'जलकेलि' कविता का नमूना देखिए —

''रोलि स्मृतियों की समाधि पर
व्यथित हृदय तू अन्तिमबार
जिन्हें प्यार करने को फिर से
तड़प रहा है सूना प्यार
- - - - - - - - -
उस आलिंगन में कितना मधु !
जिससे मैं मदहोश हुआ
आँख खुली तो लुटा हुआ था
खाली वह मधुकोश हुआ
आज हृदय बस जी भर रो ले
रोना भर तेरा अधिकार
केलि तुझे अब करने को बस
रहा अश्रु का पारावार ''[1]

इसके अतिरिक्त पत्रिका ने कुछ उत्तर-छायावादी कविताएँ भी प्रकाशित कीं जिनमें परिवर्तन की आकांक्षा है किन्तु मार्ग और उसकी दिशा अस्पष्ट है, फलतः जिनमें विध्वंस और प्रलय के नर्तन की कथा है । यथा — मार्च'34 के अंक में

1- मार्च'34, पृ036

श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी का 'गीत' —

'' मैं आँधी हूँ विप्लव वाहन ।
अंजलि ले रस-रेणुका - कनु
भर पुलकित प्रहत फेनिल नद-गन ।
... ...
झंझा का हुंकृत प्रखर नाद,
बड़वा की सयि-सयि सन-सन
दावानल का उद्धत प्रसार
विद्युत का सा उद्दाम वहन
... ...
कर दूँ दिनकर को विकृतानन
... ...
मथ मेघों को निसत्व करुँ
बढ़-बढ़ा जगत की सत्ता दूँ ।''

और उसका अन्त होता है — 'देखूँगी क्षुधा का कंपन' — पूरी कविता में केवल विध्वंस की कथा है, नवनिर्माण की नहीं । किन्तु 'हुंकार-टंकारवाद' की ऐसी कविताएँ 'हंस' में अधिक नहीं छपी । कुछ प्रकाशित काव्य रचनाएँ राष्ट्रप्रेम से भी संबंधित हैं । यथा – मार्च '34 के ही अंक में छपी श्री आर0सी0 प्रसाद सिंह विरचित 'भारत जननी' शीर्षक कविता जिसमें कवि भारत माँ की दीन-हीन दशा पर करुण विलाप करता है —

'' किसने वह माँ सर्वस्व छीन
कर दिया पलक में तुझे दीन ''[1]

ऐसी पराधीन मातृभूमि का वाध-पुत्र कैदी है और वह स्वप्न मात्र देखता है —

'' एक दिन मैंने देखा था, सुन्दर सोने सा सपना ;
कि यह ज़मीन अपनी है, औ' आसमान है अपना

1- मार्च '34, पृ02

आजाद प्रकृति करती है, सानन्द नृत्य मस्ताना,
चर-अचर सभी गाते हैं, बस आजादी का गाना।

--- --- ---

मैं बोल उठा पागल सा — 'जय भारत माता की जय'
खुल पड़ी अचानक आँखें, कुछ होश मुझे हो आया ;
तब जंजीरों से जकड़ा मैंने अपने को पाया

--- --- ---

हे ईश, कभी सच होगा, क्या मेरा वह सुख-सपना ..'[1]

प्रस्तुत कविता में स्वाधीनता प्राप्ति का स्वप्न तो देखा गया है किन्तु उसके लिए कोई ठोस क्रियात्मक कार्यवाही करने की चेष्टा दिखाई नहीं पड़ती है। प्रायः यही स्वर इस प्रकार की अन्य कविताओं का भी है।

संक्षेप में 'हंस' के पूर्ववर्ती अंकों में छपी कविताएँ किसी विशेष क्रांतिकारी मोड़ की सूचना नहीं देती। परवर्ती अंकों में जब 'हंस' ने विभिन्न भारतीय भाषाओं की प्रगतिशील शक्तियों को एक मंच प्रदान किया, तब उसने अनेक प्रगतिशील तथा यथार्थपरक कविताएँ स्वयं हिन्दी भाषा में निकाली थीं तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं की प्रगतिशील कविताओं के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किए। जैसे —'ताज' (पंत : दिसम्बर'35,पृ01) तथा 'केमियत'(सिंधी भाषा) (श्री बेकस : दिसम्बर'35,पृ094) आदि। पूर्ववर्ती युग की सन् '30 से '35 तक की कविताओं में जहाँ क्रियात्मक गतिशीलता का अभाव है, जो केवल आह्वान मात्र की कविताएँ हैं वहीं परवर्ती कविताओं में (सन् 35 के बाद की) एक प्रकार की ठोस क्रियात्मकता एवं निर्माण की आकांक्षा के दर्शन होते हैं। छायावादी स्वर की कविताएँ प्रायः गीतात्मक, लयात्मक, पद्यबद्ध कविताएँ हैं जिनमें तत्सम-प्रधान छायावादी भाषा-शैली का ही निर्वाह हुआ है।

<u>नाटक :</u> दिसम्बर'33 के अंक में पत्रिका ने प्रथम बार नाटक प्रकाशित किया। पत्रिका में प्रायः समस्या-नाटक ही छपे। पत्रिका में छपे कुछ नाटक इस प्रकार है —

1- अगस्त'33,पृ09

श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र लिखित — 'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना'। उसके पश्चात् श्री जनार्दन राय तथा गोविन्द दास के दो - तीन नाटक छपे हैं।

<u>गद्य-गीत :</u> पत्रिका में छपे गद्य-गीतों का स्वर प्रायः भावमूलक, छायावादी एवं रहस्यवादी है और प्रायः भावुक शब्द क्रीड़ा मात्र प्रतीत होते हैं। यथा — जनवरी-फरवरी'31 के अंक में छपा हुआ श्री तेजनारायण का 'क्रान्ति' कृत 'आत्म-कथा' शीर्षक गद्य-गीत जहाँ कवि कहता है — ''सघन कुंजों की काली छाया में, जहाँ दो-चार मुर्झाए हुए पीले पत्ते अपने शुष्क वृन्तों से चुपचाप चू पड़ते हैं, मेरा स्वर कोकिल के हृदय को चीर डालने वाली करुण कूक में मिलकर चीख उठता है... ''

'' मेरी सिसकियाँ, हवा के हिलारों में उड़कर पत्तों की मर्मर में मिलकर, उस अंधकार-मय एकान्त में सोए हुए वृक्षों की डालों में उलझकर तड़पने लगती हैं ''।

फिर भी न जाने क्यों, गोधूलि की धूमिल बेला में, उस पथ पर ठिठक कर खड़े हुए पथिक, मेरी आत्म-कथा सुनकर भी समझ नहीं पाते। - - - - - - ।। ''[1]

कभी-कभी इन गद्य-गीतों का स्वर प्रगतिशील भी होता था जैसा कि उसी अंक में छपी श्री शान्तिप्रसाद वर्मा का 'स्वागत' शीर्षक गद्य-गीत जहाँ 'दिनेश' का स्वागत करते हुए रचयिता परिवर्तन के ताँडव की पुकार करते हुए कहता है कि — 'तुम चमको

नर्वमंडल के बीच से अपनी प्रखर किरणों की वर्षा करो

शरद् की दूध भरी प्याली में अपने सपनों को डुबो कर चाँदनी का जो तारतम्य रचाया था, वह जागृति के इस निष्ठुर आह्वान की भेंट '' —[2] अथवा जून'33 के अंक में छपा श्री शान्तिप्रसाद वर्मा विरचित 'गद्य-गीत' जहाँ समस्त छायावादी मूल्यों को तिलांजलि देकर कवि अपनी प्रियतमा से कहता है —

1- जनवरी-फरवरी'31, पृ019

2- वही, पृ018

''उस समय तुम आए आँसू की एक बूँद लिये ।

तुम अब क्यों नहीं आते, जब मेघ गड़गड़ाते हैं, दिन अंधकारमय है और मेरा हृदय मुर्दा हो गया है ।

अब तुम होंठों में मुस्कुराहट की आभा लेकर क्यों नहीं आते ।''[1]

ये गद्यगीत और लघु-कथाएं सहज शैली में अपनी तन्वी भाव-भंगिमा अपने अंक में समेटे हुए जीवन के सार तत्व का, व्यक्ति के नैतिक और अनैतिक का बोध कराकर उसकी दृष्टि खोल देते हैं । विश्वास की सौंदर्यमयी किन्तु तीव्रतम अनुभूति, प्रेषण-क्षमता इन गद्यगीतों की निजी विशेषताएं हैं ।

इसी क्रम में पत्रिका में प्रकाशित गीतों की भी विवेचना कर ली जाए । इन गीतों का स्वर प्रायः छायावादी शैली के अतिरिक्त यत्र-तत्र उस समय की नवप्रचलित हालावादी प्रवृत्ति से भी मंडित दिखाई पड़ता है । यथा — फरवरी'34 के अंक में छपा श्री कृष्ण बलिसिंह विरचित 'बस,एक बार' गीतिकाव्य —

''छलक-छलक आशा मदिरा के—
तरल प्राण मय लघु प्याले
छिपी से हैं भावपुंज —
हो जाएं जिससे मतवाले - - - ''[2]

पद्यक्रम में आत्मकथाएं भी पत्रिका में यत्र-तत्र बिखर गई हैं । यथा — जून'34 के अंक में छपी श्री कमला प्रसाद अवस्थी विरचित 'कली की कहानी' शीर्षक आत्मकथा अथवा जनवरी-फरवरी'31 के अंक के प्रथम पृष्ठ पर ही छपी हुई प्रसाद की 'आत्मकथा' । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गद्य-गीतों और लघु-कविताओं के क्षेत्र में पत्रिका ने अपने युग की विभिन्न प्रवृत्तियों को ही मुखरित किया ।

<u>समीक्षा :</u> समीक्षा के क्षेत्र में पत्रिका ने द्विवेदी युगीन शास्त्रीय समीक्षा से आगे बढ़कर व्यक्तिपरक समीक्षाओं के युग का सूत्रपात किया । रस-छन्द, अलंकार, चरित्र-चित्रण आदि की शास्त्रीय सीमाओं से ऊपर उठकर पत्रिका ने व्यक्ति विशेष

1- जून'33,पृ035

2- फरवरी'34,पृ049

की विचारधारा को उसकी कृतियों से सम्पृक्त करके देखने का प्रयास किया गया, भले ही उसका कुछ बहुत ठोस परिणाम सामने न आया हो । इस प्रकार की समीक्षा में कृति के दोषों की विवेचना ही प्रमुख रही (उदाहरण के लिए निराला की 'अलका' की समीक्षा) —— और कभी - कभी तो यह विवेचना केवल दोष-निरूपण तक ही सीमित रहती थी (जैसा कि निराला की 'अलका' की आलोचना के संबंध में हुआ है) —— किन्तु कभी-कभी उसमें कुछ अच्छी समीक्षाएं भी छपी हैं । यथा —'नोबिल पुरस्कार विजेता गाल्सवर्दी की कृति 'फारसेट सागा' की समीक्षा । स्वयं प्रेमचंद ने अपनी कलम से बहुत सी समीक्षाएं लिखीं । पत्रिका में प्रकाशित पुस्तक समीक्षा का स्वर भी प्रायः व्यक्तिपरक है । पत्रिका ने अपने 'नीर-क्षीर' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत देशी-विदेशी अनेक भाषाओं की अनूदित पुस्तकों की समीक्षाएं लिखने के अतिरिक्त मुख्यतः साहित्यिक पुस्तकों की समीक्षा प्रकाशित की । उदाहरणतः दिसम्बर '32 के अंक में छपी फ्रांसीसी कथाकार मोपासाँ की 'वसीयत-नामा' के अनुवाद की समीक्षा अथवा प्रेमचंद कृत 'कर्मभूमि' की समीक्षा जो व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों का एक अच्छा उदाहरण है —

'' किसी व्यक्ति को 'साहित्य' या 'उपन्यास सम्राट' सरीखी पदवी प्रदान करना, मेरी अल्प मति में ठीक नहीं क्योंकि उससे जो अतिशयोक्ति की अपरिहार्य झलक दिखाई देती है, उससे उस व्यक्ति के सम्मान की अपेक्षा, अपमान होने का ही डर है ''[1]

यह है मराठी उपन्यासकार श्री हरिनारायण आप्टे के एक प्रशंसक द्वारा लिखी गई समीक्षा जिसमें मराठी के श्रेष्ठ उपन्यासकार की तुलना में हिन्दी के उपन्यासकार को भी उतनी ही ख्याति की प्राप्ति कदाचित समीक्षक को अच्छी नहीं लगी है । इन पुस्तक समीक्षाओं का स्वर प्रायः प्रचारात्मक तथा आशंसात्मक भी रहता था । उदाहरणतः —''हम चाहते हैं पुस्तक का अत्यधिक प्रचार हो'', ''जो सज्जन गुजराती समझते हैं वे इसे अवश्य मँगाएं'', ''प्रत्येक सद्गृहस्थ को इसका ग्राहक अवश्य होना चाहिए'', ''पुस्तक संग्रह करने योग्य है'' आदि-आदि वाक्य प्रायः पुस्तक-समीक्षा के अंत में लिखे रहते थे । प्रायः यह समीक्षा लेखकों को उत्साहित भी करती थी —— ''हम वैद्य जी को उनकी सफलता पर

1- दिसम्बर '32, पृ049

बधाई देते हैं।'' 'हंस' ने बच्चन, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, राहुल सांकृत्यायन, सियारामशरण गुप्त, प्रभृति लेखकों की नवीनतम पुस्तकों की समीक्षाओं के अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं की परिचयात्मक समीक्षा भी पत्रिका ने प्रकाशित की। इस पुस्तक समीक्षा का आधार कभी प्रकाशन और कभी लेखकों के कर्मोद्यम के आधार पर होता था।

मुक्ता-मंजूषा : पत्रिका ने अपने 'मुक्ता-मंजूषा' शीर्षक स्तम्भ के अंतर्गत युग की ज्वलंत सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक गतिविधियों, सांस्कृतिक दृष्टिकोण, आर्थिक अवस्थाओं, तथा साहित्यिक मान्यताओं के साथ-साथ साहित्य संबंधी नवीन-प्राचीन दृष्टिकोणों से संबंधित सुपाठ्य सामग्री हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त विभिन्न भारतीय भाषाओं की पत्रिकाओं से भी उद्धृत की। इस क्रम में पत्रिका ने उद्धरण के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी लिखकर प्रायः अपनी सम्मति प्रकट करते हुए अथवा उनकी उपादेयता बताते हुए उद्धरण के प्रमुख स्वर को रेखांकित किया। यथा — जुलाई'33 के अंक में संकलित 'महाराष्ट्र में लेखक संघ की आवश्यकता' अथवा अगस्त'33 के अंक में संकलित 'इतिहास की प्राचीनता' शीर्षक टिप्पणियाँ।

विज्ञापन : पत्रिका में विज्ञापित सामग्री भी प्रमुखतः साहित्य से ही संबंधित होती थी। युग की नवीनतम साहित्य सामग्री के विज्ञापन 'हंस' के पृष्ठों पर बिखरे पड़े हैं। स्वयं 'हंस' के शब्दों में ''''हंस' में विज्ञापन छपाना अपने रोजगार की तरक्की करना है क्योंकि यह प्रतिमास लगभग बीस हजार ऐसे पाठकों द्वारा पढ़ा जाता है जिनमें आपकी स्वदेशी वस्तुओं की खपत आशातीत हो सकती है।'' क्योंकि '''हंस' भारत के सभी प्रान्तों में पहुँचता है और जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि देशों में भी जाता है।'' 'हंस' में छपे हुए 'युगान्तर' के विज्ञापन पर जरा दृष्टि डालिए —

'' बोलती हुई भाषा और फड़कते हुए भावों का सबसे सस्ता सचित्र मासिक पत्र ... = युगान्तर =

सम्पादक श्री सन्तराम बी०ए०

अभी इसके दो ही अंक निकले हैं और समाज के कोने-कोने में भारी उथल-पुथल मच गयी है।

युगान्तर

जात-पांत तोड़क मंडल लाहौर का क्रांतिकारी मुख पत्र है। हिन्दू समाज में जन्म-मूलक जांत-पांत तथा उसकी उपज ऊँच-नीच और छूत-छात इत्यादि भेद-भाव को दूर कर हिन्दू मात्र में एकता और भ्रातृभाव पैदा करना, स्त्रियों को दासता से मुक्त होने का साधन जुटाना, अछूतों को अपनाना और समाज के भीषण अत्याचारों के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन करना युगान्तर का मुख्य उद्देश्य है।

देखिए —— युगान्तर के परिष्कृत रूप और सम्पादन पर हिन्दी संसार क्या कह रहा है -

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी — यह पत्र जान पड़ता है समाज में युगान्तर करके ही रहेगा... ... ...

सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'हंस' लिखता है - ''प्रथम अंक देखने से पता लगता है कि यह पत्र अवश्य ही समाज की अच्छी और सच्ची सेवा कर सकेगा''।[1] 'हंस' स्वयं अपना विज्ञापन एवं सत्-साहित्य का प्रचार किस प्रकार करता था यह उसी के शब्दों में देखिए —— '' जब आप 'हंस' को पढ़ लें और इसकी कुछ भी उपादेयता आपको मालूम हो तो आप अपने इष्ट मित्रों को भी इसका ग्राहक बनाने की कृपा करें। जो ग्राहक न बन सकते हों उन्हें आप स्वतः अपना अंक पढ़ने को दें। जो न पढ़ सकते हों, उन्हें अपना पढ़ा हुआ आशय समझायें।''[2] प्रायः कुछ व्यापार संबंधी विज्ञापन भी 'हंस' में छपते थे किन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम होती थी। विज्ञापनों की भाषा हिन्दी ही होती थी। यदा-कदा एक-आध विज्ञापन अंग्रेजी भाषा में भी छप जाता था। साहित्य के प्रकाशन संबंधी नवीनतम सूचनाओं के अतिरिक्त प्राचीन अंकों पर पाठकों की क्रिया-प्रतिक्रिया भी पत्रिका यथासम्भव प्रकाशित करती थी। जैसा कि 'काशी' अंक की पाठकीय प्रतिक्रिया के विषय में हम पाते हैं। इस पाठकीय प्रतिक्रिया के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य भी 'हंस' के ग्राहकों की संख्या वृद्धि ही रहता था। यथा - फरवरी'35 के अंक में छपा 'हंस' की पुरानी फाइलों संबंधी

1- अप्रैल'32 के अंक में प्रकाशित युगान्तर का विज्ञापन

2- अक्टूबर-नवम्बर '32, पृ0128

विज्ञापन । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पत्रिका ने विज्ञापन प्रकाशन में भी साहित्य सेवा को ही मुख्य ध्येय बनाया ।

अनूदित सामग्री: अपने विभिन्न अंकों में निबंध, कहानी, एकांकी तथा कविताओं संबंधी अनूदित सामग्री भी पत्रिका ने यथेष्ट मात्रा में प्रकाशित की । इस दिशा में उसका उद्देश्य देशी एवं विदेशी साहित्य से अपने पाठकों को परिचित कराना था । फलतः उसने फ्रेंच, जर्मन, रशियन, डच, जापानी कहानियों के अनुवाद प्रकाशित करने के अतिरिक्त मराठी, बंगाली, गुजराती आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं की कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित किए । यथा – अप्रैल'33 के अंक में छपी गोर्की की -'माँ और माँ का बेटा' (अनुवादक श्री रामनयन त्रिपाठी : पृ023) जून '33 के अंक में छपी टालस्टाय की कृत 'अकुला' (श्री सोमदेव जी : जून'33, पृ037) आदि तथा 'पहाड़ की पुकार' (यतीन्द्र मोहन चट्टोपाध्याय : दिसम्बर'35, पृ035), कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी लिखित 'प्रणय, प्राचीन और नवीन' शीर्षक गुजराती कहानी (मार्च'33, पृ05) । यह कहानियाँ प्रायः जीवन के विभिन्न पक्षों को उभारने वाली ही होती थीं । जैसा कि 'पहाड़ की पुकार' शीर्षक कहानी दो बंगाली नव-युवकों की माउंट एवरेस्ट तक की साहसपूर्ण यात्रा का वर्णन करते हुए उनके शौर्य और साहस को मुखरित करती है - —''धन्यवीरों । धन्य बंगाली युवकों । धन्य भारतीयों । तुम लोग आज समूची मानवजाति के प्रतिनिधि हो । समग्र मानव-समाज का आशीर्वाद और शुभ्र प्रार्थना तुम लोगों के साथ है ।''[1] इसी अंक में छपी श्री अनन्त गोपाल शेवड़े द्वारा अनुवादित कहानी —'कुत्ते का पट्टा' (दिसम्बर'35, पृ051) — एक बच्ची और कुत्ते के परस्पर प्रेम की कहानी है जिसमें बालिका अपने कुत्ते के लिए एक सुन्दर पट्टा खरीदने हेतु एक-एक पैसा जोड़ती है । बार-बार दाम पूछने के कारण दूकानदार की झिड़कियाँ खाती है और अन्त में जब वह कुत्ते का पट्टा खरीद लेने में सक्षम होती है तो उसका प्रिय मोती उसके पिता के 'साहब' के साथ भेज दिया जाता है । मनोभावों को गहरे तक स्पर्श करने वाली इस कहानी का पर्यवसान कुत्ते तथा बालिका दोनों की मृत्यु में होता है जिसके मूल में अलगाव की पीड़ा है ।

1- दिसम्बर'35, पृ038

अनूदित निबंध भी प्रायः विविध विषयों से सम्बद्ध हैं । 'आधुनिक बंगला साहित्य' (दिसम्बर '35, पृ029) तथा 'गुरु नानक की वाणी' (दिसम्बर '35, पृ096) आदि। कुल मिलाकर पत्रिका में प्रकाशित अनूदित सामग्री जीवन के वैविध्यमय पक्षों की ओर ही इंगित करती है ।

हंसवाणी : हंसवाणी शीर्षक सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत प्रेमचंद ने अपने युग की ज्वलंत समस्याओं पर लेखनी चलाते हुए अपने युग की गांधीवादी विचारधारा का भी अतिक्रमण किया जो प्रायः कथा-साहित्य आदि में संभव न हो सकता था । राजनीति, साहित्य तथा समाज के क्षेत्र में चलने वाले आन्दोलन को प्रेमचंद ने इतिहास का विशाल रूप देकर देश की जन-चित्त वृत्तियों और महत्वाकांक्षाओं को मूर्तरूप प्रदान किया है । मार्च '30 के सम्पादकीय में ही प्रेमचन्द लिख रहे थे —''डोमिनियन पद को गौर से देखिये तो उसमें राजे-महाराजे, हमारे ज़मींदार धनी भाई ही ज़्यादा नज़र आते हैं क्या इसका यह कारण है कि वह समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में पद में उन्हें बहुत कुछ दबकर रहना पड़ेगा ? स्वराज्य में किसानों की आवाज़ इतनी निर्बल न रहेगी । क्या वे लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे हैं ? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है । वह अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी शासन से ही हो सकती है । स्वराज्य उन्हें कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा ।'' हिन्दी पत्रकारिता की दशा-दिशा, पत्र-प्रकाशक और पाठकों का संक्षिप्त साहित्य की प्रगति, दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार, प्रमुख साहित्यकारों की मृत्यु अथवा पद त्याग, सम्मान प्राप्ति की सूचना, सामाजिक कुरीतियों, भाषा की समस्या आदि अनेक विषयों पर प्रेमचंद ने लेखनी चलाकर सतत् जागरूकता का परिचय दिया । उदाहरणतः 'साहित्यिक गुंडापन' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में सम्पादकों की कुटिल नीति की ओर इशारा करते हुए वे कहते हैं — '' इस होड़ युग में अन्य व्यवसायों की भांति पत्र-पत्रिकाओं को भी अपने स्वामियों या संचालकों को नफ़ा देने या अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तरह-तरह की चालें चलनी पड़ती हैं । यूरोप वाले तो शब्दजाल या लाट्रियों का लटका निकालते हैं और अपने ग्राहकों को तक़दीर अज़माने का मौका देकर अपना मतलब निकालते हैं । हिन्दी में धन के अभाव से और ढंग की चालें चली जाती हैं । पत्र में किसी तरह का विवाद छेड़ दियाजाता है या कला के नाम पर

1- दिसम्बर '35, पृ038

अर्द्धनग्न चित्र दिये जाते हैं... ... या कोई चौंकाने वाली चीज छापी जाती है जिसे पढ़कर लोगों में खासी चर्चा हो... ... उनका सिद्धान्त है—बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा, उन्हें तो पत्रिका के ग्राहक बढ़ाना चाहिए; क्योंकि उनका स्वामी नफा चाहता है और नफा न हुआ तो बेचारे सम्पादक की जान की कुशल नहीं, डेरा-डंडा सँभाल कर अपने घर की राह लेनी पड़ेगी। रोटी का सवाल तो बड़ा टेढ़ा है। गरीब सम्पादक अपनी आत्मा की हत्या करके सनसनी पैदा करने के लिए या तो नास्तिकता के समर्थक लेखों की माला निकालने लगता है या भले आदमी की पगड़ी उछालने लगता है।''[1] 'साहित्य की प्रगति' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में वह लिखते हैं -- ''बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर वह कभी साहित्य में लाई जाती थी तो केवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्यूरिटन मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दण्ड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की नहीं आदर और प्रेम की वस्तु है। गऊ की हत्या के लिए बेचने वाला अगर दोषी है, तो खरीदने वाला कम दोषी नहीं। खरीदने वाले का अगर समाज में आदर है तो बेचने वाले का अनादर क्यों हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है..... अगर कोई ईश्वर है तो ये देवदासियाँ हिसाब के दिन उससे पूछेंगी — हमने सदा परसुख की चेष्टा की, सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रखा। जख्मी भी किया, लेकिन प्राण लेने के लिए नहीं, अपना प्रेम व्यक्त करने के लिए। क्या उसका यही पुरस्कार था? और हमें विश्वास है कि ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीन काल की अप्सराएँ तो देवताओं और ऋषि मुनियों की मंजूरे नज़र थीं। हम उनकी कलजुगी बेटियों का किस मुँह से अनादर कर सकते हैं।''[2]

प्रेमचन्द ने अपनी इसी बेलाग दृष्टि के कारण अपने युग की आत्मा के हन्ताओं और अपने विरोधियों को कड़ी फटकार सुनाई और 'हंसवाणी' में प्रायः उनके द्वारा किये जाने वाले विरोधों का उत्तर दिया। यथा— 'परितोष' शीर्षक हंसवाणी जिसमें आत्मकथांक का विरोध करने वाले 'भारत' के सम्पादक की

1- अगस्त'33, पृ063

2- मार्च'33, पृ065

खूब खबर ली गई है अथवा अगस्त'33 के अंक में 'साहित्यिक गुंडापन', 'इन्टरव्यू क्या है', 'मगर यहाँ क्या हुआ ? ?' शीर्षक इसवाणी में सरस्वती सम्पादक श्रीनाथ सिंह पर बेभाव की पड़ी है —' ऐसा मालूम होता है कि श्रीनाथ सिंह जी यह मन्सूबा बाँधकर ही चले थे कि इन्टरव्यू के बहाने इनके मुँह में ऐसी-ऐसी बातें रख दें कि सभी पत्र-सम्पादकों और लेखकों से चतुर्वेदी जी की लड़ाई हो जाए और वे सब श्रीनाथ सिंह जी को अपना उद्धारक और हिमायती समझकर उनकी पीठ ठोंकने लगें... श्रीनाथ सिंह जी की जगह अगर मिस्टर एन्ड्रूज चतुर्वेदी जी से मिलने गये होते, तो वह प्रवासी भारतीयों का प्रसंग उठाते। श्रीनाथ जी वह सारी गपोड़े लिखकर खुद अपने ही खोदे हुए गढ़े में औंधे मुँह गिर पड़े हैं... ... क्या यह सारी बेहूदगी एक प्रतिष्ठित पत्रिका के प्रतिष्ठित सम्पादक के योग्य है और क्या सरस्वती के पाठक इसीलिए सरस्वती खरीदते हैं कि उन्हें इस तरह के लेख पढ़ाये जाएँ।''[1]

संक्षेप में, 'हंस' में अपने युग की प्रायः समस्त विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय हुआ है। छायावादी कविताओं और गीतों के समानान्तर रहस्यवादी कविताओं का प्रकाशन तथा उत्तरछायावादी प्रवृत्ति एवं हालावाद के दर्शन भी यत्र-तत्र होते हैं। कथा-साहित्य के क्षेत्र में आदर्श और यथार्थ का समन्वय करने वाली कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं तो गद्यगीत एवं लघु कविताओं में भी युगीन काव्य प्रवृत्तियों की झलक दिखाई पड़ती है। उस युग की प्रचलित नवीनतम धाराओं – यथा मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणवाद, कल्पना, भावुकता, लेखक-पाठक संबंध आदि के भी पत्रिका में दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त देशी- एवं विदेशी साहित्य की बहुमूल्य सामग्री का संचय हुआ है। युग की परिवर्तित चेतना के समानान्तर भारतीय साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीयता की परिकल्पना तथा हिन्दी-लेखक-संघ के निर्माण पर भी बल दिया गया है। निष्कर्षतः 'हंस' में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं —

1- अगस्त'33, पृ०64

1) छायावाद के भाववादी, व्यक्तिवादी तत्वों का विकास और संस्कारों की छटा।

2) पूर्ववर्ती युग के सामाजिक चेतना वाले तत्वों का विकास।

किन्तु यथार्थवादी प्रवृत्ति का प्राबल्य ही पत्रिका में सर्वत्र भास्वर हुआ है। इन दोनों प्रवृत्तियों के द्वन्द्व और धाराओं के पार्थक्य को रेखांकित करने का प्रयास विकृत सरलीकरण होगा क्योंकि कभी - कभी एक ही कवि की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों वाली रचनाएं भी पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं। समाज के पुनर्निर्माण एवं पुनर्गठन के जिस उद्देश्य एवं इच्छा को लेकर 'हंस' अवतरित हुआ उसे युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के बीच उसने किस प्रकार पूर्ण करने का सतत् प्रयत्न किया यह विवेचन उस लघु-शोध-प्रबंध में पहले ही किया जा चुका है।

उपसंहार

कोई व्यक्ति नवीन-युग चेतना का निर्माण, उसका विकास एवं परिष्कार तीनों कार्य एक साथ नहीं कर सकता, किन्तु जीवन के विविध पक्षों का एक साथ विकास करने वाली पत्रिका 'हंस' एवं उसके सम्पादक प्रेमचन्द ने यह कार्य एक साथ सम्पन्न किया । 'हंस' में जिस प्रकार एक साथ ही भौतिकवाद - आध्यात्मवाद, मार्क्सवाद - गांधीवाद, वैयक्तिकता - सामाजिकता, अन्तर्जगत - बहिर्जगत, रूप - भाव आदि का समन्वय हुआ है — और जो वस्तुतः छायावादी संस्कारों का ही बढ़ाव एवं प्रतिक्रिया है — वह 'प्रगतिवाद' की उस 'भारतीयता' का ऐतिहासिक प्रमाण है जिस पर कालान्तर में उसके विरोधियों ने आक्षेप लगाए । प्रगतिशील लेखकों ने किस प्रकार मार्क्सवाद को अपने प्रगतिवादी - भाववादी संस्कारों के अनुरूप प्रारंभ से ही स्वीकार किया — जिसने आगे चल 'प्रयोगवाद' को जन्म दिया — इसका आभास भी इसी पत्रिका से हमें मिल जाता है । किसी कृतिकार की महानता इस बात में है कि यथार्थ के प्रति उसका अध्ययन कितना गहरा और सम्पन्न है । कलाकार की चेतना के प्रति मार्क्स का यह कथन कि वह अपने समय में चलने वाले वर्ग-संघर्ष को उसके पूरे संदर्भों के साथ पहचाने और मूर्त करे — प्रेमचंद एवं उनके द्वारा सम्पादित 'हंस' के संदर्भ में यथावत् लागू होता है । 'हंस' का इतिहास स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भाव-भूमि तथा उच्च विचारों के निरन्तर विकास का इतिहास है जो यथार्थवाद और जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर निरन्तर अग्रसर रहा है । 'हंस' में प्रकाशित सामग्री निरन्तर विकास की प्रवहमान धारा है जो सामाजिक - सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों से उद्भूत होकर विकासक्रम में क्रमशः परिवर्तित होती चली है तथा साथ ही अपने सिद्धान्तों को उत्तरोत्तर पूर्ण और स्पष्ट करती रही है । इसलिए युगगत और इतिहास-गत सारी सीमाओं के बावजूद 'हंस' का प्रगतिशील आन्दोलन के विकास में ऐतिहासिक महत्व है ।

संदर्भ ग्रंथ - सूची

1- आज का भारत	: रजनीपामदत्त : मैकमिलन प्रकाशन : संस्करण 1977
2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	: डा0 रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली, 1973
3- आधुनिक हिन्दी साहित्य	: अभिनव भारती ग्रंथ माला
4- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	: डा0 नामवर सिंह : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
5- काँग्रेस का इतिहास	: पट्टाभि सीतारमैया :
6- चिट्ठी पत्री	: श्री अमृतराय : हंस प्रकाशन, 1962
7- छायावाद	: डा0 नामवर सिंह : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली, 1968
8- छायावाद उत्थान-पतन पुनर्मूल्यांकन	: डा0 देवराज उपाध्याय : कलाकार प्रकाशन, लखनऊ, 1975
9- नेहरू : व्यक्तित्व और विचार	: सम्पादक श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, हरिभाऊ उपाध्याय, श्रीमन्नारायण, यशपाल जैन : सस्ता साहित्य मण्डल, 1974
10-निराला की साहित्य साधना (भाग-2)	: डा0 रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली
11-प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन	: हंसराज रहबर, : नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, 1966
12-प्रेमचंद और उनका युग	: डा0 रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली, 1967
13-प्रगतिवाद	: शिवकुमार मिश्र : राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 दिल्ली, 1966
14-पत्रकार प्रेमचंद और हंस	: डा0 रत्नाकर पाण्डेय : राजेश प्रकाशन, दिल्ली, 1977

15- भारतीय चिन्तन परम्परा : के० दामोदरन : पी०पी० एच०, 1976

16- भारत : वर्तमान और भावी : रजनी पामदत्त : पी०पी० एच०, 1976

17- मेरी कहानी : पं० जवाहरलाल नेहरू : एलाइड पब्लिशर्स, 1962

18- रंगभूमि : प्रेमचंद : सरस्वती प्रेस, 1976

19- रस मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

20- विविध प्रसंग : अमृत राय : हंस प्रकाशन, 1962

21- 'हंस' की फाइलें सन् '30 से 36 तक

22- The Necessity of Arts : Ernest Fisher : Penguin Book ,1978

23- The Future Results of British Rule in India : Karl Marx

24- The Indian Middle Classes : B.B. Mishra : Oxford University Press,1978